

## सम्पादकीय

प्रकृति या विश्व व्यवस्था में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, उसमें स्वविकास की शक्ति अन्तर्निहित है। एक विकास प्रकृति का स्वभाव गुण है, दूसरा विकास मनुष्य की अपनी इच्छा एवं जरूरत पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य की स्वभाविक इच्छा निरन्तर विकसित होने, विकसित करने की होती है।

प्राचीन काल में मनुष्य की इच्छा और प्रकृति के स्वभाव गुण में सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। जैसे-जैसे मनुष्य की भौतिक इच्छाओं ने विस्तार लेना प्रारम्भ किया, वैसे-वैसे उसका स्वभाव प्रकृति के साथ मित्रता की जगह शोषक के रूप में परिवर्तित हो गया। इसका दुष्परिणाम सम्पूर्ण जैविक, प्राकृतिक एवं मानवीय व्यवस्था में एक मूल्यहीन-अव्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। मनुष्य की अनियंत्रित भौतिक इच्छाओं एवं मनोवेगों को सही दिशा देने के लिए और उसे एक पूर्ण मनुष्य बनाने के लिए ही धर्म एवं नैतिक शिक्षा का उदय हुआ। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में धर्म के गुणों और नैतिक मूल्यों को आत्मसात करने से ही मनुष्य सही मायने में मनुष्य बनता है। इसीलिए प्राचीन काल के ऋषियों, मनीषियों द्वारा अनेक प्रयास किए गये। इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों के साथ-साथ महावीर, बुद्ध, शंकर, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द एवं महर्षि अरविन्द आदि महापुरुषों के योगदान का उल्लेख किया जा सकता है।

स्वतंत्रता बाद मानव निर्माणकारी मूल्य शिक्षा देने की जिम्मेदारी विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के ऊपर छोड़ दी गयी। लेकिन इन शिक्षण संस्थाओं ने आज तक कोई ठोस प्रयास नहीं किये। इसी कारण हमारे पूर्व राष्ट्रपति डॉ० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने 1 जनवरी 2010 को हिन्दुस्तान समाचार पत्र में प्रकाशित अपने सम्पादकीय लेख में सन् 2020 तक एक विकसित भारत के लिए अन्य प्रयासों के साथ-साथ मूल्य आधारित शिक्षा को अपनी प्राथमिक शिक्षा से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया है।

यद्यपि मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता मनुष्य को स्वयं अपने आपको, अपनी मानवीय व्यवस्था को उत्कृष्ट बनाने के लिए है, लेकिन जब मनुष्य स्वयं इसे आत्मसात नहीं करता है, तब कानून द्वारा इसके पठन-पाठन को अनिवार्य किये जाने हेतु प्रयास किये जाते हैं। इसका एक उदाहरण पर्यावरणीय शिक्षा की अनिवार्यता के रूप में हमारे सामने है। स्वप्रेरणा एवं मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता को देखते हुए सन् 1992 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्यों ने एक अनोखा प्रयोग प्रारम्भ किया था, जिसने अपने 17 वर्षों में मानवीय मूल्यों की स्थापना में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस केन्द्र की तरह सम्पूर्ण भारत में इस तरह के और प्रयासों की जरूरत है। इसी क्रम में 'मूल्य-विमर्श' पत्रिका भारत के शिक्षाविदों एवं मनीषियों को जोड़ने का एक छोटा सा प्रयास है, जिसे आप सभी विद्वतजनों के वैचारिक और आत्मिक सहयोग की भी आवश्यकता है।

-धर्मेन्द्र कुमार मिश्र

## हमारा युवावर्ग कैसे समाज में जीना चाहता है?

प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा सितम्बर-अक्टूबर माह में विद्यार्थियों की एक कार्यशाला आयोजित की गयी। कार्यशाला का शीर्षक था, "जीवन में सफलता के लिए नैतिक एवं मानवीय मूल्य"। इस कार्यशाला में मेरी प्रस्तुति का विषय था, "हमारी नैतिक-सामाजिक चेतना"। कार्यशाला के इस सत्र में करीब पचास छात्र-छात्राएँ उपस्थित थे। वे अलग-अलग विषयों के विद्यार्थी थे- विज्ञान, विधि, प्रौद्योगिकी, शिक्षा-शास्त्र, कृषि विज्ञान, आदि। पर अधिकांश प्रतिभागी कला संकाय और सामाजिक विज्ञान संकाय के थे। अपनी बात कहने के पहले मैं यह जानना चाहता था कि एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे ये युवजन अपने समाज के बारे में क्या सोचते हैं? उनकी दृष्टि में हमारे समाज को किस रूप में विकसित होना चाहिए? अतः प्रारम्भ में ही मैंने उनसे दो प्रश्न पूँछे और उनका उत्तर एक पृष्ठ में लिखने को कहा। प्रश्न थे, मैं कैसे समाज में जीना चाहता हूँ/चाहती हूँ? मैं कैसा समाज बनाना चाहता हूँ/चाहती हूँ? उत्तर लिखने के लिए दस मिनट समय निर्धारित किया गया। पर अधिकांश छात्र इतने मनोयोग से लिख रहे थे कि समय सीमा पाँच मिनट और बढ़ा दी गयी। उस समय तो उनके लिखित उत्तरों को पढ़ने का समय नहीं था। अतः उन्हें फाइल में रख लिया और अपनी प्रस्तुति दे डाली। दूसरे दिन जब उन्हें पढ़ा तो इन युवजनों के विचारों की गहराई और परिपक्वता ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। मेरी प्रस्तुति तो कई दिनों के सोच-विचार के बाद व्यवस्थित हो पायी थी। पर इन विद्यार्थियों ने जो लिखा वह तो उनके सहज-अभिव्यक्त विचार थे।

मैंने प्रयास किया कि उनके अलग-अलग विचार-बिन्दुओं को संकलित और व्यवस्थित करके देखा जाय कि आज का युवा कैसे समाज में जीने का सपना देखता है। और मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि उनका यह सपना मेरे सपने से अधिक समृद्ध और सुन्दर है। उनके इस सपने को आप से भी बांटना चाहूँगा।

एक विचार जो सबसे सशक्त रूप से अभिव्यक्त किया गया है, वह है- सभी को अपने जीवन और व्यक्तित्व को अपनी इच्छानुसार विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। समाज ऐसा होना चाहिए जहाँ सभी की ज़रूरतें पूरी हों और सभी के अधिकार सुरक्षित हों। पर उसमें एक ही साँचे में ढलने का दबाव, या परंपराओं का यथावत अनुसरण करने का दबाव नहीं होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की यह चाह लगभग सभी के द्वारा (प्राप्त 49 उत्तरों में से 44 में) अलग-अलग शब्दों में अभिव्यक्त की गयी है। कुछ ने स्पष्ट कहा है कि समाज को उनके विकास में सहायक होना चाहिए, बाधक नहीं। उन्नीस लोगों ने कहा है कि उनका इच्छित समाज पारंपरिक संकीर्णताओं से, कुरीतियों से, जड़ता से और अंधविश्वासों से मुक्त होना चाहिए। उतने ही लोगों ने यह भी कहा है कि उसे आर्थिक, धार्मिक और जातिगत आधार पर ऊँच-नीच, भेदभाव की भावनाओं से भी मुक्त होना चाहिए। अतः स्वतंत्रता के साथ-साथ जो दूसरा महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य मुखरित हुआ है वह है, समानता का। वैसे तो स्वतंत्रता और समानता हमारी संवैधानिक व्यवस्था के आधारभूत मूल्य हैं, पर स्पष्ट है कि अभी भी ये मूल्य हमारे सामाजिक जीवन व्यवहार को अनुप्राणित नहीं कर पाये हैं। वे केवल

सैद्धान्तिक आदर्श के रूप में ही प्रतिपादित हो रहे हैं, जीवन व्यवहार में नहीं।

स्वतंत्रता और समानता के बाद सर्वाधिक मुखरित भाव है मानवीय मूल्यों का। चौतीस आलेखों में इन मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करने का भाव व्यक्त हुआ है। इसके लिए विद्यार्थियों द्वारा प्रयुक्त शब्द हैं— भाईचारा, प्रेम—भाव, सद्भावना, सबका आदर, सुख—दुःख में सहभागिता, सहयोग, अपनापन, आदि। वे ऐसे समाज में रहना चाहते हैं जहाँ विषमताएं, द्वेष, कटुता आदि न हों। सभी मिलजुल कर रहें, मिलजुल कर समाज का विकास करें। जहाँ मैं, के स्थान पर 'हम' का भाव अधिक हो। इन शब्दों के सम्मिलित स्वर में जो दो सामाजिक मूल्य मुखरित होते हैं वे हैं, बंधुत्व और सामुदायिकता। जहाँ स्वतंत्रता और समानता आधुनिक समाज दर्शन की देन हैं, वहीं बंधुत्व और सामुदायिकता के भाव हमारे पारंपरिक भारतीय समाज में स्वतः प्रतिष्ठित मूल्य रहे हैं। पर युवाओं में इन मूल्यों के प्रति बढ़ती ललक शायद यह दिखाती है कि ये आधारभूत मानवीय मूल्य भौतिक—आर्थिक विकास की आधुनिक अंधी दौड़ में उपेक्षित हो रहे हैं। एक ओर आधुनिक सामाजिक मूल्य स्थापित नहीं हो पा रहे हैं। दूसरी ओर पारंपरिक मानवीय मूल्यों से भी हाथ धोना पड़ रहा है। लगता है स्थिति 'माया मिली न राम' वाली बन रही है।

इसी संदर्भ में एक अन्य सशक्त टिप्पणी है, 'मानव को मानव समझा जाय, यंत्र नहीं'। मानव को उसके गरिमामय आदर्शात्मक, दार्शनिक—आध्यात्मिक धरातल से उतारकर, उसे केवल एक यंत्र—व्यवस्था अथवा जैविक—प्राणिक संरचना के रूप में देखने—समझने का भाव आधुनिक वैज्ञानिक सोच की देन है। इस सोच में नैतिक—मानवीय मूल्यों के लिए, मानव की भावनात्मक संवेदनाओं के लिए, उसके सौंदर्यबोध के लिए और उसकी

सांस्कृतिक अभिप्रेरणाओं के लिए कोई स्थान नहीं होता। आज की बाजारवादी सोच ने तो मानव का और भी अधिक अमानवीकरण कर दिया है। मानव अब केवल एक 'संसाधन' के रूप में देखा जाता है। खनिज, ऊर्जा, पूँजी, आदि की ही श्रेणी में आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक उत्पादन के लिए एक और संसाधन। इसी रूप में उसका विकास करने के लिए हमारा 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' आज अनेक प्रयास कर रहा है। आर्थिक—सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त प्रयास तो होने ही चाहिए। पर इस विकास की कीमत मानव का अपचयन या अमानवीकरण नहीं होना चाहिए। आखिर आज के विकास के सभी उपक्रम मानव के ही विकास के लिए तो हो रहे हैं। अच्छा हो कि इस भाव को दर्शाने के लिए 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' का नाम बदल कर केवल 'मानव विकास मंत्रालय' कर दिया जाय। और वह युवाओं के समग्र मानवीय विकास के लिए कार्य करे, न कि उन्हें केवल संसाधन के रूप में विकसित करने के लिए।

इन युवजनों ने स्वतंत्रता—समानता, बंधुत्व तथा अन्य मानवीय मूल्यों के बाद तीसरे स्थान पर रखा है सामाजिक और मानवीय विकास की आधुनिक अवधारणा को। वे चाहते हैं कि हमारा समाज भौतिक दृष्टि से संपन्न और समृद्ध हो। वह 'प्रगतिशील' हो और 'विकसित' हो। पर यह विकास केवल आर्थिक—सामाजिक विकास के आकड़ों तक ही सीमित न हो। वह ऐसा विकास हो जो जन—जीवन को 'खुशहाल' और 'जीवंत' बनाए, वह 'मानव कल्याणकारी' हो, जनहितकारी हो। सामाजिक विकास में सभी की भागीदारी हो और सभी को उसका लाभ मिले। सामाजिक न्याय की यही तो मूल अवधारणा है। उनतीस लोगों के वक्तव्यों में ये विचार अलग—अलग तरीकों से अभिव्यक्त हुए हैं। इस सर्वेक्षण से एक और महत्वपूर्ण बात उभर कर

सामने आती है। किसी ने भी भारत को एक विश्वशक्ति के रूप में विकसित करने की बात नहीं कही है। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि ये युवजन औद्योगिक, भौतिक समृद्धि तो चाहते हैं, पर मानव-कल्याण के लिए। एक आर्थिक, सामरिक और राजनैतिक महाशक्ति बनकर दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नहीं। लगता है ऐसी महाशक्ति बनने के सपने हमारे राष्ट्र-राज्य की सत्ता से जुड़े लोग, और आज की औद्योगिक-आर्थिक शक्ति से संपन्न लोग ही अधिक देख रहे हैं, सामान्य युवावर्ग नहीं। विश्व-शांति और उभरती विश्व-नागरिकता की भावना के समर्थन में यह एक शुभ लक्षण है।

चौथी महत्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि समाज केवल भौतिक-सामाजिक दृष्टि से ही विकसित न हो। साथ ही साथ सांस्कृतिक विकास भी उतना ही आवश्यक है। अठारह लोगों ने यह कहा है कि वे ऐसा समाज चाहते हैं जहाँ सभी लोग शिक्षित हों, विद्या और विद्वानों की प्रतिष्ठा हो, और जहाँ कला और कलाकारों का सम्मान हो। ऐसा समाज जहाँ जीवन 'सरस' हो, नीरस नहीं। यहाँ भी हमारे युवजन सांस्कृतिक संकीर्णताओं के पक्षधर नहीं हैं वे ऐसा वातावरण चाहते हैं जहाँ वैचारिक खुलापन हो, विभिन्न विचारों पर आपसी संवाद और संघर्ष होते रहें। क्योंकि इसी से नए और बेहतर विचार निकलते हैं। इस प्रकार वे एक 'उदार' और खुले समाज की कल्पना करते हैं। सांस्कृतिक विकास के अंतर्गत ही यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि सामाजिक जीवन व्यवहार में और व्यवस्थाओं में 'नैतिक मूल्य' प्रतिष्ठित हों, सभी में 'कर्तव्य बोध' और 'दायित्व बोध' हो। पांचवे स्थान पर यह आकांक्षा है कि हमारा समाज हिंसा, आतंक और भय से मुक्त हो, जहाँ शांति हो और जीवन 'सुरक्षित'। सत्रह अभिव्यक्तियों में यह बात ध्वनित

हुई है। इसे आज के जीवन में बढ़ती हुई आतंकी घटनाओं, हिंसात्मक संघर्षों और आपराधिक वारदातों से उत्पन्न प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। कुल मिलाकर हमारे युवजन ऐसे सभ्य समाज में जीना चाहते हैं जो भयमुक्त हो, उदार हो और सांस्कृतिक रूप से विकसित हो।

कई अन्य सामाजिक मूल्यों का उल्लेख भी हमारे युवजनों के वक्तव्यों में किया गया है। दस लोग चाहते हैं कि समाज सुव्यवस्थित, सुगठित और अनुशासित हो। साथ ही छः लोग यह भी कहते हैं कि समाज 'लोकतांत्रिक' हो। अर्थात्, अनुशासन के नाम पर वे अधिनायकवादी या सत्ता-वादी व्यवस्था नहीं चाहते। सात लोग शोषण और भ्रष्टाचारमुक्त समाज चाहते हैं। आज के सर्वव्यापी भ्रष्टाचार के युग में इतने कम लोगों ने यह विचार व्यक्त किया है, यह एक आश्चर्य की बात है। संभवतः विश्वविद्यालय के अकादमिक और आदर्शवादी वातावरण में रहने वाले इन युवजनों का समाज के कटु-सत्यों से अभी अधिक सामना नहीं हुआ है। एक अच्छे समाज के जिन कुछ अन्य मूल्यों का उल्लेख किया गया है वे हैं— अधिकारों और कर्तव्यों पर समान बल हो (3), सामाजिक गतिविधियों में पारदर्शिता हो (3), प्रकृति और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता हो (3), परिश्रमी, कुशाग्र और प्रतिभासंपन्न लोगों को बढ़ावा मिले (1), स्वस्थ प्रतियोगिता हो (1)।

इन विद्यार्थियों द्वारा अभिव्यक्त सारी बातों को एक साथ मिलाकर देखा जाय तो भविष्य के समाज का जो वृत्त-चित्र उभरता है उसे एक समग्र रूप से विकसित मानव समाज कहा जा सकता है। ऐसा समाज जहाँ स्वतंत्रता और समता के भाव व्यक्तिगत और संस्थागत व्यवहार में सन्निहित हों, जहाँ सभी को अपनी इच्छानुसार जीने और विकसित होने के अवसर समान रूप से मिले, जहाँ उनके



अधिकार सुरक्षित हों। यह समाज केवल संवैधानिक, न्यायिक, आर्थिक और सामाजिक संरचनाओं का जाल मात्र ही न हो। वह मानवीय दृष्टि से जीवंत समाज हो, जीवन व्यवहार में और सामाजिक संबंधों में प्रेम और बंधुत्व की भावना तथा अन्य नैतिक एवं मानवीय मूल्य प्रतिष्ठित हों। समाज भौतिक रूप से ही नहीं, सांस्कृतिक रूप से भी विकसित और उन्नत हो। कुल मिलाकर अगर एक वाक्य में कहा जाय तो वे एक विकसित, सभ्य और मानवोचित समाज में जीने के सपने देखते हैं।

युवाओं के विचार-संकलन के इस सीमित प्रयास से कोई सामान्य निष्कर्ष निकालने से पहले हमें इसकी सीमाओं को भी रेखांकित करना होगा। यह प्रयास वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वनियोजित शोध अध्ययन नहीं था। कार्यशाला के प्रतिभागियों से प्रश्न पूछते समय मैंने यह सोचा भी नहीं था कि इस पर कोई लेख लिखूंगा। दूसरी बात— इस कार्यशाला के प्रतिभागियों को विश्वविद्यालय के सामान्य विद्यार्थियों के प्रतिनिधि के रूप में नहीं देखा जा सकता। ये वे विद्यार्थी हैं जो नैतिक और मानवीय मूल्यों जैसे गंभीर विषयों में रुचि रखते हैं, और उन्हें जानने-समझने के लिए पांच सप्ताह तक प्रतिदिन शाम को दो घंटे इस कार्यशाला में बैठने के लिए स्वेच्छा से तत्पर हैं। अधिकांश छात्र तो परीक्षा में अच्छे नंबरों से पास हो जाने लायक पढ़ाई से ही संतुष्ट हो जाते हैं। या अधिक से अधिक अपने विषय के विशेषज्ञ बनने के लिए ही अध्ययन, शोध आदि से। वे तो प्रायः केवल अपने व्यक्तिगत भविष्य के ही सपने देखते हैं, और उसे ही समृद्ध करने— और वह भी मुख्यतः आर्थिक और भौतिक रूप से— के लिए सचेष्ट रहते हैं। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि आज अपने देश का पूरा युवा-वर्ग ही ऐसे उन्नत समाज में जीने और ऐसा समाज बनाने के सपने देख रहा है जिसे यहाँ रेखांकित

किया गया है। जीवन, जीवन-मूल्य, समाज, सामाजिक-मूल्य आदि विचार-बिन्दुओं पर व्यवस्थित रूप से सोचने, विचारने और विमर्श करने वाले लोग तो आज के प्रौढ़ और प्रबुद्ध वर्ग में भी कम ही मिलते हैं। अतः एक विश्वविद्यालय में पचास ऐसे जागरूक विद्यार्थियों का होना स्वयं में ही एक महत्वपूर्ण और सुखद बात है। उनकी मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता, और उनकी जागृत नैतिक-सामाजिक चेतना का साक्षात्कार करके मन की यह आशा और दृढ़ होती है कि हमारे देश और समाज का भविष्य उज्ज्वल है।

पूछे गये दोनों ही प्रश्नों का भाव लगभग एक ही है। अतः दूसरे प्रश्न का उत्तर कुछ ही लोगों ने अलग से लिखा है। इन थोड़े से उत्तरों में भी एक भाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। अपने सपनों जैसा समाज बनाने के लिए ये युवजन अपना दायित्व स्वीकार करते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस दायित्व को निभाने के लिए उन्हें स्वयं अपने को और अपनी जीवन दृष्टि को परिवर्तित करना होगा। यह दायित्वबोध और परिवर्तन की आवश्यकता की स्वीकारोक्ति दोनों ही अत्यंतपूर्ण और शुभ संकेत है। उच्च शिक्षा व्यवस्था के प्रबंधकों को यह सोचना होगा कि कैसे युवजन की इन भावनाओं को प्रोत्साहित किया जाय ताकि वे और प्रगाढ़ और व्यापक बन सकें तथा उनकी नैतिक-सामाजिक चेतना और अधिक विकसित और परिष्कृत हो सके।♦

**“मैं कर्मठता का उपदेश गौरवों (छोटी चिड़ियों) से लेता हूँ, जो सवेरे हर्षोद्रेक से चहचहाती हुई अपने काम में निरत हो जाती हैं।”**

○ मालवीय जी

## स्वस्थ चिंतन और प्रशासनिक उत्कृष्टता

श्री राकेश कुमार मित्तल

आज समाज में निराशा का वातावरण व्याप्त है। प्रशासनिक व्यवस्था भी इससे अछूती नहीं है। इस वातावरण के लिए हम एक-दूसरे पर दोषारोपण तो करते रहते हैं, किन्तु स्थिति को सुधारने का प्रयास नहीं करते। आज की प्रशासनिक व्यवस्था में जो अभी भी मूल्यों पर चलने का प्रयास करते हैं उनका सोच भी बहुधा नकारात्मक हो गई है। ऐसे लोग स्थिति का ऐसा भयानक चित्रण करते हैं कि उसमें आशा की कोई किरण दिखाई नहीं देती। फलस्वरूप जो स्थिति को बदलने का प्रयास करना चाहते हैं वे भी पीछे हट जाते हैं। ऐसे में स्थिति बद से बदतर होना स्वाभाविक है।

मेरा अनुभव है कि स्थिति इतनी भयावह नहीं है जितना उसका चित्रण किया जाता है। यदि तर्क की दृष्टि से ऐसा चित्रण ठीक भी हो, तो ऐसा करने से कोई लाभ नहीं होता। हमें कहीं तो पहला कदम उठाना होगा। मेरे विचार में पहला कदम स्वयं में स्वस्थ चिंतन लाना है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि अंधकार को कोसने से वह नहीं जाता। ऐसा करने के लिए मात्र एक दीप प्रज्ज्वलित करना पर्याप्त है और उसके लिए कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार यदि हम अपने अंदर स्वस्थ चिंतन का आशादीप प्रज्ज्वलित कर लें तो प्रशासन के क्षेत्र में छाया अंधकार स्वयं छटने लगेगा।

ऐसा करने के लिए हमें पहले 'स्वस्थ चिंतन' शब्द को ही ठीक से समझना होगा। 'स्वस्थ' से हमारा तात्पर्य आशाजनक, विकासशील, व्यापक, प्रगतिशील, धनी आदि होने से है। जब हमारा दृष्टिकोण 'स्वस्थ' होता है तो संकीर्णता, स्वार्थ, निर्धनता स्वयं समाप्त होने लगते हैं। तब हम स्वयं को प्रकृति का अंग मानते हैं और मानते हैं कि सब इसी से प्राप्त होता है और इसी में विलीन हो

जाता है। ऐसा मानने से हमारी लेने-देने की भावना समाप्त हो जाती है और हमें जो प्राकृतिक रूप से प्राप्त होता है उसमें संतोष करने लगते हैं। ऐसा होने पर हमें अपने कर्तव्य को ठीक से निभाने से ही प्रसन्नता मिलती है और हम समाज के लिए एक उपयोगी अंग बन जाते हैं।

'चिंतन' मानव का स्वभाव है। यदि हमारा चिंतन स्वस्थ होता है, तो सबसे अधिक लाभ हमें ही मिलता है और यदि अस्वस्थ होता है, तो सबसे अधिक हानि भी हमें ही होती है। यह बात समझ में आ जाने पर 'स्वस्थ चिंतन' हमारा स्वभाव बन जाता है। तब हम अपने सबसे अच्छे मित्र बन जाते हैं और आस-पास का वातावरण हम पर प्रभाव डालने के स्थान पर स्वयं प्रभावित होने लगता है। जब अधिक से अधिक लोग इस प्रकार का चिंतन करते हैं तो स्थिति में स्वयं सुधार होता है और उसका लाभ पूरी व्यवस्था को मिलता है। इस पृष्ठभूमि में हमें 'स्वस्थ चिंतन' व 'श्रेष्ठ प्रशासन' में सम्बन्ध स्थापित करना सरल होगा। हमारा स्वस्थ चिंतन हमारे कुछ गुणों के रूप में परिलक्षित होता है। ये गुण ही श्रेष्ठ प्रशासन को जन्म देते हैं। ऐसे ही कुछ गुणों का उल्लेख हम आगे करेंगे जिनका लाभ प्रशासनिक व्यवस्था को मिलने के साथ-साथ हमें स्वयं भी लाभान्वित करता है।

**1. सत्यनिष्ठा—** प्रशासनिक सफलता के लिए सबसे पहली आवश्यकता 'सत्यनिष्ठा' का होना है इस शब्द की व्यापकता को भी समझना आवश्यक है। सामान्यतः इसे घूस न लेने तक सीमित कर दिया जाता है। वास्तव में सत्यनिष्ठा सदगुणों का एक समूह है जिनमें यह भी सम्मिलित है। व्यापक दृष्टि से देखने पर सत्यनिष्ठा एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व का द्योतक है। ऐसे व्यक्ति में साहस, निष्पक्षता,

निर्लिप्तता, सरलता, परिश्रम, भयहीनता, न्यायप्रियता, ईमानदारी, विनम्रता व निर्मलता का होना आवश्यक है। इसमें से एक गुण के अभाव से भी हमारी 'सत्यनिष्ठा' प्रभावी होती है। ये गुण शनैः शनैः विकसित होते हैं और एक बार यह प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर वह तेजी से बढ़ती है। कुछ समय बाद सत्यनिष्ठा हमारा स्वभाव बन जाती है। मेरा अनुभव है कि हमारी आधी समस्याओं का निदान हमारी 'सत्यनिष्ठा' से ही हो जाता है। मेरा मानना है कि सांसारिक दृष्टि से भी 'सत्यनिष्ठ' होना लाभकारी है। किसी ने कहा भी है कि 'एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति भगवान की सबसे मूल्यवान कृति है'। ये गुण हममें तभी विकसित होते हैं जब हम जीवन के व्यापक लक्ष्य को समझते हैं। यदि हमारा चिंतन स्वस्थ नहीं है, तो हम कभी भी सत्य के मार्ग से भटक सकते हैं और तब हमारी स्थिति 'न घर का, न घाट का' जैसी हो सकती है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सफलता हमें तभी मिलती है जब हम अन्दर से सत्यनिष्ठ हों न कि किसी दबाव के कारण।

**2. ज्ञान** — एक कुशल प्रशासक के लिए सत्यनिष्ठा के बाद ज्ञान का महत्व होता है। यदि हमें अपने कार्य का अच्छा ज्ञान है, तो हम अपने अधीनस्थों से न केवल सम्मान प्राप्त करते हैं बल्कि उनका उचित मार्गदर्शन भी कर पाते हैं। आधुनिक समय में जब सभी क्षेत्रों में तेजी से विकास हो रहा है, यह और भी आवश्यक है ताकि हमारे ज्ञान अद्यावधिक रह सकें। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि हमें प्रत्येक बात को विस्तार में जानना है, किन्तु मूल बातों को अवश्य जानना चाहिए। यह भी महत्वपूर्ण है कि हमारी प्रवृत्ति जानने की रहे। व्यवहार में अनेक बातें ऐसी होती हैं जिन्हें हमें कोई नहीं बतायेगा, किन्तु यदि हमारी सीखने की प्रवृत्ति है, तो हम उसे जानने का अवसर अवश्य पा जायेंगे। यह प्रवृत्ति ही हमें हर स्तर पर सम्मान प्रदान करती है। साथ ही हमें दूसरों के ज्ञान का उचित सम्मान करना चाहिए।

एक सामान्य प्रशासक के नाते हमारा तकनीकी ज्ञान हमेशा सीमित रहेगा। अतः विशेषज्ञों को सम्मान देने से न केवल हमें अपने कार्य में सहायता मिलती है बल्कि हमें उनका सम्मान भी मिलता है तथा वे प्रेरित रहते हैं। जन-प्रशासन में तो यह पारस्परिक सम्मान और भी आवश्यक है।

**3. विश्वास** — आज प्रशासन में गिरावट व निराशा का एक महत्वपूर्ण कारण विश्वास के वातावरण का अभाव है। ब्रिटिश साम्राज्य से प्राप्त इस विरासत के शिकार हम आज तक बने हुए हैं और नियमों की व्याख्या में ही अपने कार्य की इति श्री समझ लेते हैं। परिणाम स्वरूप प्रशासन की छवि निरन्तर गिरी है और उसे लाल फीताशाही का नाम दे दिया गया है। इससे भी यदि ठीक निर्णय हो जाए तो भी हानि नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि सभी सावधानी बरतने के उपरान्त भी न तो सही निर्णय होते हैं और न ही उनका ईमानदारी से पालन होता है। आज किसी विभाग में पचास प्रतिशत से अधिक समय वैयक्तिक मामले को सुलझाने अथवा जाँच आदि की प्रक्रिया में लग जाता है साथ ही इसका जो प्रतिकूल प्रभाव कर्मचारियों/अधिकारियों पर पड़ता है, उससे होने वाली हानि अलग है। मेरे विचार में इसका मुख्य कारण विश्वास का अभाव है।

एक अच्छा प्रशासक हर मनुष्य को अच्छा मानकर चलता है और विश्वास करता है। ऐसा करने से कार्य के वातावरण में तेजी से सुधार होता है। विश्वास करना एक दैवीय गुण है, वे ही विश्वास करते हैं जो स्वयं विश्वसनीय हों। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम सभी पर अंध-विश्वास रखें। विश्वास करते समय हम सावधान तो रहते ही हैं। जैसे सड़क पर चलते समय सावधान रहना होता है, उसी तरह यदि हम सावधान रहते हुए विश्वास करें, तो हमारी अनेक समस्याओं का समाधान स्वयं हो जाता है। मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह है कि विश्वास करने से कभी-कभी हानि हो

सकती है, किन्तु न करने से हानि की संभावना हमेशा रहती है। एक प्रशासक के रूप हमें सभी प्रकार के व्यक्तियों का सामना करना होता है। विश्वास के वातावरण का अच्छा प्रभाव नकारात्मक तत्त्वों पर भी पड़ता है और वे या तो बदल जाते हैं अथवा निष्क्रिय हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो कठोर कार्रवाई करने का विकल्प सर्वथा हमें उपलब्ध है। किन्तु ऐसा कर्तव्यवश करना चाहिए, न कि बदला लेने के उद्देश्य से।

**4. उपलब्धता** — आज प्रशासन के विरुद्ध एक बड़ा आरोप यह है कि अधिकारी अथवा कर्मचारी जनता को सरलता से उपलब्ध नहीं होते। यह आरोप काफी सीमा तक ठीक है। आज प्रशासन जन-साधारण से निकटता से जुड़ा है और जनता को अधिकारियों से समय-समय पर सम्पर्क करना होता है। यही आवश्यकता अधीनस्थ कर्मचारियों की भी होती है। अतः एक कुशल प्रशासक को चाहिए कि वह पर्याप्त सीमा में अपनी उपलब्धि बनाये रखे। मेरा मत है कि हमारी उपलब्धता बहुत सीमा तक नकारात्मक तत्त्वों से हमें बचाती है और वे व्यवस्था के साथ खिलवाड़ नहीं कर पाते। दुर्भाग्य से अधिकांश अधिकारी स्वार्थी तत्त्वों के चंगुल में फँस जाते हैं और स्वयं को वास्तविकता से दूर कर लेते हैं। ऐसे तत्त्वों को बुद्धिमानी एवं दृढ़ता से दूर रखना चाहिए। आज अधिकांश कठिनाई हमारी सरलता से उपलब्धता न होने के कारण होती है। भले ही हमारी नियत साफ हो और हम कर्तव्यनिष्ठ हों किन्तु ठीक बात हम तक न पहुँचने के कारण हम गलत निर्णय कर बैठते हैं और हमें अपयश प्राप्त होता है। यदि हमारा चिंतन साफ है, तो हमें किसी से मिलने में हिचक नहीं होगी। वास्तव में हमें इस बात में गौरवान्वित अनुभव करना चाहिए कि कोई हमसे मिलना चाहता है। ऐसी सोच होने पर मिलने का अवसर अथवा समय अवश्य प्राप्त हो जाता है, भले ही हम कितने ही व्यस्त अथवा

महत्त्वपूर्ण पद, पर हों। यदि जनसाधारण में यह भावना व्याप्त हो कि आप सभी से प्रसन्नतापूर्वक मिल लेते हैं, तो उनमें आपके व व्यवस्था के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है और श्रेष्ठ प्रशासन एक प्राकृतिक प्रक्रिया बन जाता है।

**5. करुणा** — एक प्रशासक के रूप में हमसे अधिकांश वही लोग मिलते हैं जो कठिनाई में होते हैं। हो सकता है कि एक छोटी कठिनाई उन्हें बड़ी लग रही हो, किन्तु हमें उनके दृष्टिकोण से उन्हें देखना चाहिए। प्रशासक के इसी गुण को करुणा कहते हैं। यह दया से भिन्न है। दया में हम दूसरे को दीन भावना से देखते हैं व उस पर अहसान करने की प्रवृत्ति रखते हैं। करुणा में हम उसको उसी दृष्टि से देखते हुए सहायता करने का प्रयास करते हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम भावुकता से कार्य करें। भावुकता में तो निर्णय गलत लेने की संभावना रहती है। एक कुशल प्रशासक के लिए करुणा बहुत ही लाभदायी गुण है। करुणा से अनेक बार हम बिना सहायता किये ही सहायता करते हैं। करुणा के माध्यम से हम दूसरे को सम्मान प्रदान करते हैं और उसे यह आभास देते हैं कि उसकी सहायता करने का पूर्ण प्रयास किया जा रहा है। प्रशासन में इसका आश्चर्यजनक परिणाम होता है। ऐसा होने पर हमारे द्वारा दिया गया दण्ड भी सहर्ष स्वीकार होता है और दण्डित व्यक्ति का हित करता है। दूसरी ओर उपेक्षा से दिया गया पुरस्कार भी कोई प्रभाव नहीं डालता। करुणा का गुण स्वस्थ चिंतन से ही उत्पन्न होता है जो श्रेष्ठ प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

**6. निर्भयता** — भय एक प्रशासक के प्रभावी होने में बड़ी बाधा है। स्वस्थ चिंतन से इस कमी को दूर किया जा सकता है। चाहे वह पद पर बने रहने का भय हो अथवा किसी अन्य बात का इससे ठीक निर्णय लेने की क्षमता प्रभावित होती है और अन्ततः हमारी सत्यनिष्ठा। हमें प्रत्येक स्थिति को यथावत



स्वीकार करते हुए उसे एक अवसर मानना चाहिए। यदि हम ऐसा करते हैं तो भय का कारण ही समाप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, हमारा यह गुण नकारात्मक तत्वों में भय उत्पन्न करता है और सकारात्मक तत्वों में उत्साह। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ किसी प्रशासक ने निर्भयता के बल पर बड़ी-बड़ी बाधाओं का सामना सफलतापूर्वक किया। यदि हम साहस का प्रदर्शन करते हैं, तो वातावरण भी हमारे अनुकूल बनने लगता है। हाँ, इस प्रक्रिया में विनम्रता नहीं खोनी चाहिए क्योंकि यह साहसी व्यक्ति का आभूषण होती है। हमें इसे कमजोरी नहीं मानना चाहिए। साहस व विनम्रता जैसे गुण भी स्वस्थ चिंतन की देन होते हैं और यदि हम व्यापक दृष्टिकोण रखते हैं, तो सहजरूप में हममें आ जाते हैं।

**7. धैर्य** — धैर्य कुशल प्रशासक का एक अन्य महत्वपूर्ण गुण है। यह वह गुण है जिसके होने से हम बिना पुरस्कार की आशा किये अपने मूल्यों पर चलते रहते हैं। यह वास्तविकता है कि हम ऐसे वातावरण में कार्य करते हैं जहाँ विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों, व्यक्तियों एवं घटनाओं से हमारा सामना होता है। यह सामना हमें धैर्य से करना चाहिए। विपरीत परिस्थितियों में आक्रोश व्यक्त करने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। परन्तु यह बात भी सत्य है कि अन्त में हमारे धैर्य की ही विजय होती है और उसकी सराहना होती है। इसीलिए कहा गया है कि एक सीमा तक हमें अपनी छवि की रक्षा करनी होती है और उसके बाद हमारी छवि हमारी रक्षा करती है। एक कुशल प्रशासक के लिए यह भी आवश्यक है कि उन समस्याओं पर अनावश्यक ध्यान न दें जिनका कोई समाधान नहीं है। ऐसी समस्याओं को पहचानने का विवेक भी उसमें होना चाहिए। यह प्रवृत्ति भी स्वस्थ चिंतन से हो जाती है और प्रशासनिक उत्कृष्टता में बहुत सहायक होती है। हमें इस बात में दृढ़ विश्वास आवश्यक है कि

अन्ततः सफलता अच्छे मार्ग पर चलने से ही मिलती है और इस प्रकार प्राप्त सफलता स्थायी होती है।

**8. स्वीकार्यता** — बुद्धिमानों ने कहा है कि जो बदल न सको उसे स्वीकार कर लो। मैं इससे सहमत हूँ। किन्तु इस बात को सावधानीपूर्वक समझने की आवश्यकता है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमने हार स्वीकार कर ली। इसका अर्थ यह है कि बहुत-सी चीजों को हम पूर्ण प्रयास करके भी नहीं बदल सकते। हम विविधता के वातावरण में रहते हैं और किसी भी समस्या का एक उत्तर नहीं बता सकते। दृष्टिकोण समय व परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। हमारा दृष्टिकोण दूसरों से भिन्न हो सकता है और हम अपने ही दृष्टिकोण के अनुसार निर्णय ले सकें यह सर्वथा संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम भिन्न दृष्टिकोण स्वीकार कर लें यदि ऐसा करना व्यापक हित में हो। एक कुशल प्रशासक में इस प्रकार का लचीलापन होना आवश्यक है। उसे ऐसी परिस्थिति को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अनावश्यक विवाद नहीं करना चाहिए। वास्तविकता यह है कि जब व्यवहारिक लचीलेपन से कार्य करते हैं तो हमारा सम्मान बढ़ता है और हम कार्य सुचारु रूप से करते हुए दूसरों का सहयोग प्राप्त करते हैं।

एक कुशल प्रशासक के और भी बहुत गुण वर्णित किये जा सकते हैं, पर उन सबका मूल स्वस्थ चिंतन में ही है। प्रशासक का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और किसी भी समस्या का एक निश्चित समाधान नहीं बताया जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि सकारात्मक दृष्टिकोण होने पर प्रत्येक समस्या का समाधान निकल आता है। यद्यपि इस प्रकार का दृष्टिकोण सतत बनाये रखना सरल नहीं है, किन्तु निरन्तर अभ्यास से ऐसा अवश्य संभव है। तब हम न केवल स्वयं श्रेष्ठ व्यक्ति बनते हैं बल्कि श्रेष्ठ प्रशासक भी माने जाते हैं। ♦

## स्वामी विवेकानंद और मूल्यपरक शिक्षा

डॉ० सुजाता साहा

स्वामी विवेकानंद का आविर्भाव ब्रिटिश भारत में तब हुआ था, जब देश अनेक समस्याओं से जूझ रहा था। एक यायावर सन्यासी होने के कारण उन्होंने भारत की बहुमूल्य आध्यात्मिक समृद्धि एवं उसकी आवश्यकताओं को निकट से समझा था। उनका मानना था कि जनसामान्य की उन्नति द्वारा ही राष्ट्र की खोई पहचान वापस पाई जा सकती है। उन्नति के इस प्रयास का उत्स मानव-मन के भीतर से होना चाहिए। सच्ची शिक्षा ही ऐसा कर सकती है।

स्वामी जी के अनुसार “शिक्षा मनुष्य में पहले से वर्तमान पूर्णता का प्रकटीकरण है।” यह परिभाषा वेदान्त दृष्टिकोण पर आधारित है। वेदान्त दर्शन के अनुसार, जिस प्रकार चकमक पत्थर में अग्नि स्वाभाविक रूप से होती है, उसी तरह मनुष्य में ज्ञान विद्यमान होता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की होती है कि उसे बाहर लाने हेतु समुचित ठोकर अथवा दिशानिर्देश दिया जाय।

विवेकानंद ने विद्यार्थी को अन्वेषणकर्ता के रूप में देखा है। यह शिक्षक का कार्य है कि वह अपने छात्र में अन्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत करे। इस प्रकार की अधिगम प्रक्रिया में छात्र की सुसुप्त योग्यताएं प्रकट हो जाती हैं। जो कुछ मनुष्य सीखता है, वह वस्तुतः वही होता है, जिसे वह अनंत ज्ञान की खान अपनी आत्मा पर से आवरण हटाकर खोज निकालता है। अतएव सीखना या अधिगम एक सहज क्रिया है बशर्ते उसके मार्ग की बाधाएँ दूर कर दी जाएँ।

किसी भी बालक अथवा बालिका में अनेक योग्यताएँ होती हैं। उन योग्यताओं की पारस्परिक भिन्नता मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर सकती है।

बालक को उनमें से एक चरम विकास हेतु चुनना होता है अथवा विभिन्न योग्यताओं को वरीयता क्रम देना होता है कि पहले वह किस योग्यता के विकास पर विशेष ध्यान दे। साथ ही परिस्थिति अनुसार उनमें से कुछ के विकास का विचार त्यागना भी पड़ता है। तभी सीमित संसाधनों के प्रयोग से उसका स्वस्थ विकास संभव है।

सीखने से संबंधित सभी कुछ एक लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट प्रक्रिया के ही अभिन्न अंग हैं। अतः इस संदर्भ में ‘पूर्णता’ का अर्थ हुआ— व्यक्ति की क्षमताओं के चरम विकास को प्राप्त करना। उपनिषदों में दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा है—‘परा विद्या’ अथवा परम ज्ञान तथा ‘अपरा विद्या’ या इस जगत् का ज्ञान। परा विद्या आध्यात्मिक वास्तविकता को उद्घाटित करती है, जबकि अपरा विद्या वह ज्ञान है, जो इस दृश्य जगत् से सम्बन्धित मुद्दों पर दिशानिर्देश देती है।

प्रथम दृष्टि से पूर्णता की प्राप्ति का तात्पर्य है — उस आत्मा को उसकी वास्तविक प्रकृति का साक्षात्कार कराना, जो शुद्ध और स्वतंत्र है तथा उसकी सभी पीड़ाएँ इस कारण हैं कि वह अपनी वास्तविक प्रकृति से अनभिज्ञ है। पूर्णता प्राप्ति की इस प्रकार व्याख्या करते हुए विवेकानंद कहते हैं— “अंतर की दिव्य ज्योति के बारे में अधिकांश लोगों को समझ नहीं होती। यह लोहे के लम्बे बरतन में रखे दीपक की भाँति है, जिसके बाहर प्रकाश की एक किरण का भी आलोक दिखाई नहीं देता। किन्तु आत्मिक शुद्धता तथा निःस्वार्थता के अभ्यास के उपरान्त हम प्रकाश को रोकनेवाले माध्यम के घनत्व को कम से कमतर तब तक करते जाते हैं, जब तक कि अन्ततः वह शीशे की भाँति पारदर्शी

नहीं हो जाता।" अपरा विद्या से संयुक्त परा विद्या विद्यार्थी को उसके स्वयं के दिव्य स्वरूप का साक्षात् करने में सहायता करती है, जो मानव-जीवन का लक्ष्य है।

अनुभवगम्य या प्रयोगसिद्ध स्तर पर पूर्णता के प्रयास का तात्पर्य है — व्यक्ति के जीवन तथा समाज में वर्तमान विविध अपूर्णताओं पर एक आदर्श मानव बनने के प्रयास में विजय प्राप्त करना। विभिन्न समाज में पूर्णता के आदर्श अलग-अलग होते हैं। भारत की तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थित के अनुरूप विवेकानंद ने कहा है — "वह शिक्षा, जो सामान्य बहुसंख्यक जनता को जीवन-संघर्ष के लिए तैयार नहीं करती, जो चरित्र की सशक्तता एवं सेवा-भावना को उत्प्रेरित नहीं करती, जो सिंह के समान साहस प्रदान नहीं करती, क्या उसका नाम सार्थक है? वास्तविक शिक्षा वह है, जो व्यक्ति को उसके स्वयं के पैरों पर खड़े होने में सहायता करती है" इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु शिक्षा को वैसे सम्मिलित विचार प्रदान करने चाहिए, जो जीवन, मनुष्य तथा चरित्र-निर्माण करनेवाले हों। यह समस्त ज्ञान अपरा विद्या अर्थात् लौकिक विषयों के अंतर्गत आता है।

विवेकानंद समझते थे कि ऐसी मनुष्य-निर्माणकारी शिक्षा दीर्घकाल की अपेक्षा रखती है। इसी कारणवश उन्होंने निरन्तर और जीवन भर चलने वाली शिक्षा का समर्थन किया। व्यक्ति की मूलभूत अन्तर्निहित शक्ति सहज रूप से तब प्रकट होती है, जब उसकी बाह्य एवं आंतरिक बाधाएँ शिक्षक अथवा शिक्षा-प्रणाली द्वारा सही समय पर दूर कर दी जाती हैं। बाह्य बाधाएँ शैक्षिक संसाधनों एवं अवसरों के अनुचित वितरण, आर्थिक विकास की असमानताओं अथवा सामाजिक-राजनीतिक अस्थिरता के रूप में हो सकती हैं। आंतरिक बाधाओं का ताल्लुक-शिक्षक-छात्र संबंध, परिवर्तनों

के प्रति समंजन तथा, निर्णय लेने में विद्यार्थी की कठिनाई अथवा विद्यार्थी की शारीरिक-मानसिक कमियों से है।

इन बाधाओं को दूर करने हेतु शिक्षा को द्विमुखी उपागम अपनाना चाहिए —

प्रथम के अनुसार, उसे भौतिक संस्कृति तथा मस्तिष्क के स्वस्थ एवं गत्यात्मक दृष्टिकोण के निर्माण पर बल देना चाहिए ताकि विद्यार्थी जीवन की चुनौतियों का सामना कर सकें, जबकि द्वितीय के अनुसार, उसे वर्तमान पीढ़ी के विद्यार्थियों को उपयुक्त मूल्यपरक शिक्षा देना चाहिए ताकि समाज की उन भावी बुराईयों को उत्पन्न होने से रोका जा सके, जो आगे समाज की समस्याओं को जटिलतर कर देती हैं।

**मूल्य एवं मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा —**

इस संबंध में विवेकानंद का मानना है — सूचना प्राप्त करना, किताबों से सीखना या इच्छाओं पर बलपूर्वक रोक लगाकर मनुष्य को यंत्रवत् बना देना शिक्षा नहीं है। शिक्षा वह है, जो मानव-जीवन और चरित्र का निर्माण करती है, इच्छाशक्ति का विकास करती है तथा स्वयं में निहित दिव्यता का साक्षात् कराती है। अनंत ऊर्जा, असीमित उत्साह, अनंत साहस और अपरिमित धैर्य का विकास ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

तीव्रगति से परिवर्तनशील समाज में मूल्यपरक शिक्षा का मुख्य बिन्दु यह नहीं है कि मूल्यों की एक सूची बना ली जाय और उसे बिना समझे रट कर स्वीकार कर लिया जाय और न ही यह कि महान व्यक्तियों द्वारा अपनाये गए मूल्यों का अंधानुसरण किया जाय अपितु मूल्यों का मूल्यांकन व्यक्तिगत, सामाजिक, एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। तदुपरांत यदि आवश्यक हो, तब व्यापक सामाजिक हित में उन्हें समंजित कर अपनाना चाहिए।



बालक में यह समझ होनी चाहिए कि यदि कोई अवांछनीयता पूर्व में अर्जित कर ली गयी है तो उसे बिना हिचक त्याग दिया जाय। तत्पश्चात् चरित्र-निर्माणकारी मूल्यों को आत्मसात् करना चाहिए ताकि अवांछनीय प्रलोभनों का प्रतिरोध किया जा सके। विवेकानंद कहते हैं— “हम वैसी शिक्षा चाहते हैं, जिससे चरित्र का निर्माण हो सके, मन की शक्ति बढ़ सके, बुद्धि का विस्तार हो सके तथा जिसके द्वारा व्यक्ति आत्मनिर्भर हो सके।” व्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष की अवहेलना कर बाह्य परत को चमकाने का कोई लाभ नहीं होता।

स्वामी जी ने अधिगम को आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्कृति की दिशा में निर्धारित किया है। वह धर्म को शिक्षा का मूल केन्द्र मानते हैं। धर्म का तात्पर्य वे मूलभूत सिद्धांत हैं, जो सभी धर्मों में विद्यमान है। यह धर्म व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है, हृदय को खोलता है तथा चरित्र को दृढ़ बनाता है। हमारा व्यक्तित्व सभी जैविक कारकों के साथ ही व्यक्ति के अर्जित गुणों, आवेगों, प्रवृत्तियों, अभिवृत्तियों, अभिरूचियों तथा व्यवहार एवं जीवन-दर्शन का योग होता है, जबकि व्यक्ति का चरित्र उसके समाज के मानकों और मूल्यों के माध्यम से प्रत्यक्षीकृत व्यक्तित्व होता है। व्यक्ति का हर कार्य, हर विचार उसकी हर गति मस्तिष्क पर एक प्रभाव छोड़ती है। इन्हीं प्रभावों का समग्र योग व्यक्ति का चरित्र निर्धारित करता है। व्यक्ति का चरित्र बार-बार दुहराई गयी आदतों से बनता है और आदतें उन्हीं प्रभावों के संयुक्तीकरण का परिणाम है। इस प्रकार अच्छी आदतों के विकास और अभ्यास से व्यक्ति के चरित्र को बेहतर दिशा दी जा सकती है।

विद्यार्थी के चरित्र-निर्माण में शिक्षा की भूमिका को दो स्तरों पर देखा जा सकता है —

#### 1. अन्तरात्मा का निर्माण तथा

#### 2. अभ्यास द्वारा मूल्यों का आत्मसातीकरण

प्रथम स्तर से अनुदेशनात्मक और पाठ्यक्रम संबंधी सामग्री संबंधित है, जबकि द्वितीय स्तर पर शिक्षक और अभिभावक स्वयं के उदाहरण द्वारा विद्यार्थी में उच्चस्तरीय गहन अन्वेषण की प्रवृत्ति को अभिप्रेरित कर सकते हैं। माता-पिता के बाद शिक्षक के व्यक्तित्व का ही बालक पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विवेकानंद शिक्षक से एक आदर्श की भूमिका की अपेक्षा रखते थे। उनकी मनुष्य एवं चरित्र-निर्माणकारी शिक्षा के अंतर्गत इस बात पर बल है कि बाल्यकाल से ही विद्यार्थियों को ऐसे शिक्षकों का सान्निध्य मिलना चाहिए, जिसका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो। उन शिक्षकों की जीवन-शैली और व्यवहार के तरीकों का अनुभव प्राप्त कर विद्यार्थी का व्यक्तित्व सकारात्मक दिशा प्राप्त कर सकेगा।

स्वामी विवेकानंद विद्यार्थियों के बीच आध्यात्मिक विश्वबंधुत्व का विकास करना चाहते थे, क्योंकि सभी प्राणियों में उसी आत्मा का वास है, सिर्फ विभिन्न शरीरों में उसके प्रकटीकरण के तरीके में भिन्नता है। शिक्षा का कार्य इस तथ्य के प्रति भी जागरूक करना है।

शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर बल देते हुए विवेकानंद का कहना था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के साथ-साथ दूसरों की ऐसी ही आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा न बन सके। वह जीवनयापन हेतु हर राज्य के शिक्षा-केन्द्रों में कृषि तथा उद्योगों की शिक्षा देने के पक्ष में थे।

#### शैक्षिक निहितार्थ —

1. अपने प्रत्येक विद्यार्थी की अन्तर्निहित क्षमताओं पर विश्वास करना शिक्षक का दायित्व है। बौद्धिक योग्यताओं के साथ-साथ अन्य योग्यताओं के भी



## मानव मूल्य एवं शिक्षा

डॉ० गोपाल प्रसाद नायक

मानव मूल्य वह सदगुण समूह है या ऐसी आचार संहिता (Code) है, जिसे अपने संस्कारों तथा पर्यावरण के माध्यम से अपनाकर मनुष्य अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनी जीवन-शैली का निर्माण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इनमें मनुष्य का विचार, विश्वास, निष्ठा या आस्था आदि समाहित होते हैं। ये मानव-मूल्य एक ओर व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा नियंत्रित होते हैं तो दूसरी ओर उसकी संस्कृति एवं परम्परा द्वारा क्रमशः निस्सृत एवं परिपोषित होते हैं। सत्य, अहिंसा, त्याग, परोपकार आदि जीवन मूल्यों का उपयोग यदि मानव केवल अपने लिए करता है तो ये सदगुण जीवन मूल्यों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। क्योंकि 'बहुजन हित' इन जीवन मूल्यों की कसौटी मानी जाती है।

जीवन मूल्यों को स्थूल रूप से दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है — परिवर्तनशील मूल्य एवं शाश्वत मूल्य। इन्हें दूसरे शब्दों में क्रमशः युग धर्म तथा सनातन धर्म कह सकते हैं। युग धर्म के अन्तर्गत कुल धर्म, देश धर्म, जाति धर्म, वर्ण धर्म, लिंग धर्म, पुत्र धर्म, पत्नी धर्म, गुरु धर्म आदि अनेक प्रकार के धर्मों का समावेश होता है। इनका सभी धर्मों द्वारा समान भाव से पालन किया जाता है। युग धर्म परिवर्तनशील होते हैं। साथ ही उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है। सनातन धर्म शाश्वत है।

अर्बन ने मूल्यों को दो भागों में बाँटा —

(अ) जैविक मूल्य — इन मूल्यों के अन्तर्गत शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक मूल्यों को रखा।

(ब) अति जैविक मूल्य — इन मूल्यों को उसने दो श्रेणियों में विभक्त किया।

(i) सामाजिक मूल्य— इनके अन्तर्गत साहचर्य मूल्यों

तथा चारित्रिक मूल्यों को स्थान प्रदान किया है। इनमें साधन तथा साध्य दोनों प्रकार के मूल्य होते हैं।

(ii) आध्यात्मिक मूल्य — इनके अन्तर्गत सौन्दर्य मूल्य, बौद्धिक मूल्य तथा धार्मिक मूल्यों को स्थान प्राप्त है।

अमेरिकी तर्कशास्त्री लेविस (Lewis) ने मूल्यों को चार वर्गों में विभाजित किया है — आंतरिक मूल्य, बाह्य मूल्य, अन्तर्निहित मूल्य एवं साधन मूल्य।

आन्तरिक मूल्यों से लेविस का तात्पर्य उन मूल्यों से है जिन्हें व्यक्ति अपनी इच्छा से स्वीकार करता है और उसके हृदय के अंग होते हैं और जिनके पालन करने का आदेश व्यक्ति को अंदर से प्राप्त होता है और जिसके पालन से उसे आत्म संतोष मिलता है। इस वर्ग में उन्होंने धर्म पर आधारित नैतिक नियमों को स्थान दिया है जैसे सत्य। बाह्य मूल्यों से उनका तात्पर्य उन मूल्यों से है जिन्हें व्यक्ति बाह्य दबाव से स्वीकार करता है और जो उनकी बुद्धि को तो स्वीकार होते हैं पर वे उसके हृदय में स्थान नहीं बना पाते और जिसका पालन वह बाहरी वाह-वाह प्राप्त करने के लिए करता है। इस वर्ग में उन्होंने सामाजिक व राजनैतिक नियमों को रखा है जैसे धर्मनिरपेक्षता। हम जानते हैं कि प्रेम व द्वेष मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं। उसने इस प्रकार के मूल्यों को अन्तर्निहित मूल्यों की संज्ञा दी है। और साधन मूल्यों से उनका तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मूल मूल्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं। जैसे — अहिंसा के पालन में दीन-हीनों की सेवा।

मानव में अपने पूर्व-जन्म तथा माता-पिता

आदि से ग्रहण किये हुए संस्कार उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं। उन्हीं संचित संस्कारों के अनुसार मानव अपने चारों ओर फैले संसार तथा जीवन की परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों, अपने व्यक्तित्व का निर्माण ज्ञात-अज्ञात रूप से करता है और वही उसका संसार होता है। इस प्रकार अपने-अपने संस्कारों तथा परिवेश से व्यक्तियों का अपना-अपना संसार बनता है। परिवेश एवं संस्कारों की विविधता से व्यक्ति के जीवन मूल्य भी पृथक-पृथक हो सकते हैं। द्रुत गति से होने वाले आधुनिक औद्योगिक विकास, जनसंख्या विस्फोट तथा नगरीकरण के कारण आज का मानव मानसिक पीड़ाओं, वैयक्तिक कुण्ठाओं तथा आर्थिक विषमताओं से त्रस्त है। इसका प्रमुख कारण मानव-मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा का क्रमिक ह्रास है। इस नैतिक ह्रास के लिए हमारी शिक्षा उत्तरदायी है। वह शिक्षा बालकों को परिवार, समाज एवं विद्यालयों से प्राप्त होती है।

वस्तुतः मूल्यों की शिक्षा बच्चे के घर से प्रारम्भ होती है। परिवार बच्चे की सर्वप्रथम पाठशाला है। परिवार बालक को सिखाता है कि वह मीठी वाणी बोले, सम्मान करना सीखे, सत्य बोले, सभी का उचित अभिवादन करे, शिष्ट व्यवहार करे आदि। इन आदतों का सामाजिक मूल्य अथवा नैतिक महत्त्व बचपन में नहीं समझा जा सकता है, परन्तु बच्चा सिखाये से अधिक दिखाये से सीखता है। उसके सामने जैसे नमूने रखे जायेंगे वह देखकर वैसे ही करने लगेगा। माता-पिता अपने स्नेह के बल से तथा गुरुजन अपने बड़प्पन के प्रभाव से बालक के मन में अच्छी बातें और अच्छी आदतें बैठा सकते हैं। बच्चों के सही व्यवहार की प्रशंसा करनी चाहिए और उसके इस कार्य हेतु प्रोत्साहन देना चाहिए। बच्चों के अनुचित व्यवहार की निंदा की जानी चाहिए।

परिवार में सुनायी जाने वाली दादा-दादी की कहानियों का बड़ा महत्त्व है। इनमें बच्चों की स्वाभाविक रुचि होती है इनसे उनका मनोरंजन होता है और साथ ही साथ इनसे अनेक मानवीय गुणों और व्यवहार कौशल की शिक्षा प्राप्त करते हैं। परिवार में बच्चों को ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिए जो छोटी और सरल हो, जिनसे बच्चों में प्रेम, सहानुभूति सहयोग, दया, दान, क्षमा और राष्ट्र समर्पण के महत्त्व का ज्ञान हो।

परिवार की सीमा बहुत छोटी है। यहाँ तो सामान्यतः हर बच्चे को हर स्थिति में माता-पिता का प्यार मिलता है और वह अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता है। परन्तु समुदाय में तो उन्हीं बच्चों की प्रशंसा होती है और उन्हीं को सुरक्षा प्रदान की जाती है जो समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों, सिद्धान्तों और व्यवहार मनदण्डों के आधार पर व्यवहार करते हैं। चूँकि मनुष्य जन्म से मरण तक समुदाय में ही रहता है इसलिए मानवीय मूल्यों के विकास में समुदाय का विशेष महत्त्व है। सामाजिक मूल्यों के विकास के लिए उचित सामाजिक पर्यावरण की आवश्यकता होती है उसी तरह धार्मिक मूल्यों के विकास उचित सामाजिक, धार्मिक पर्यावरण की आवश्यकता होती है। जैसे अपने देश को देखें तो सिद्धान्त में समाजवाद है पर प्रयोग में वर्गभेद एवं पूँजीवाद। बात धर्मनिरपेक्षता की करते हैं पर धर्म के आधार पर एक वर्ग विशेष को अल्पसंख्यक कहकर वोट के लालच में विशेष सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं। गरीबी सभी वर्गों में है परन्तु जाति के आधार पर आर्थिक सहायता की बात की जा रही है और तो और अब तो धर्माचार्य भी कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का उपदेश देने और काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद का निषेध करने वाले धर्माचार्य आज काम, क्रोध, लोभ तथा मोह से त्रस्त हैं। परन्तु

आज भी हमारे समाज में मूल्य आधारित आचरण करने वाले लोग हैं और हम उनकी प्रशंसा करते हैं उन्हें आदर्शवादी कहते हैं, उनका सम्मान करते हैं, भले ही वे निर्धन हों, निर्बल हों। बस यही एक आशा की किरण शेष है जो हमारे समाज में मूल्य आधारित आचरण की वापसी ला सकती है। यदि हम बच्चों में उचित मूल्यों का विकास करना चाहते हैं, उन्हें मूल्य आधारित जीवन जीने की ओर अग्रसर करना चाहते हैं तो पहले हमें स्वयं वैसा करना होगा और यदि हम समय रहते नहीं चेते तो वह दिन दूर नहीं जब हम पुनः पशुवत जीवन जीने के लिए विवश होंगे।

वर्तमान समाज में मूल्यों का ह्रास हमारी शिक्षा के लिए एक गम्भीर चुनौती है, जिसे स्वीकार करके शिक्षा द्वारा ही मूल्यों का विकास करना होगा तथा शिक्षा में सुधार द्वारा ही इन मूल्यों में ह्रास को रोका जा सकता है। विद्यालय में मूल्यों के विकास के दो प्रमुख आधार हैं – विद्यालयी पर्यावरण एवं शिक्षकों की आदर्श प्रस्तुति। शिक्षा आयोग (1964-66) के अनुसार विद्यालय का वातावरण, अध्यापकों का व्यक्तित्व एवं व्यवहार विद्यालय में उपलब्ध भौतिक सुविधाएँ विद्यार्थियों को मूल्योन्मुख बनाने में विशेष भूमिका निभाते हैं। विद्यालयों में शिक्षा को अधिक से अधिक अनुभव से जोड़ना चाहिए। हमें ऐसा मनुष्य बनाना है जो स्वयं स्वेच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन का प्रयास करे जिससे व्यक्ति, समाज के सभी का कल्याण सम्भव हो। शिक्षक में यदि स्वयं ही अच्छे मूल्य विकसित होंगे तो शिक्षक, छात्र के लिए प्रेरणा बन सकता है, क्योंकि हर छात्र का आदर्श उसका शिक्षक ही होता है। शिक्षक जिन मूल्यों को छात्रों को देना चाहता है वह मूल्य स्वयं शिक्षक द्वारा प्रदर्शित होना चाहिए। अंत में हम कह सकते हैं कि बालक में अनुकरण की मनोवृत्ति जन्मजात होती है। बालक किशोरों का अनुकरण

करते हैं, किशोर अपने से बड़ों का अनुकरण करते हैं और युवक प्रौढ़जनों का। प्रौढ़जनों में हमारे शिक्षक, अभिभावक, धर्मगुरु, राजनेता, प्रशासक आदि सभी आते हैं। ♦

पृष्ठ 13 का शेष भाग

अधिकतम विकास हेतु निरंतर प्रयास करना चाहिए।

2. विद्यार्थी में भी अपनी क्षमताओं के प्रति प्रारंभ से ही आत्मविश्वास विकसित करना चाहिए।

3. पाठ्यक्रम ऐसा हो, जिसमें व्यावहारिक एवं लौकिक विषय तथा आध्यात्मिक एवं प्रासंगिक मूल्यपरक विषय दोनों का संतुलित संयोग हो।

4. वर्तमान अवरोधों को दूर कर व्यक्ति को आत्मनिर्भर, चरित्रवान और सच्चा मनुष्य बनाना शिक्षा का उद्देश्य है।

5. एकाग्रता वृद्धि, स्पष्ट दृष्टिकोण, दृढ़ इच्छाशक्ति एवं सकारात्मक और स्वस्थ अन्वेषणात्मक चिंतन की दिशा में निरंतर प्रयास करना चाहिए।

6. शिक्षक द्वारा अपने चरित्र-निर्माण पर भी ध्यान देना अपेक्षित है, तभी उसका प्रभाव विद्यार्थियों के सकारात्मक विकास में सहायक सिद्ध होगा।

**निष्कर्ष** –विवेकानंद यह महसूस करते थे, कि एक आदर्श समाज द्वारा अपने प्रत्येक सदस्य की संभावनाओं को अधिकतम स्तर तक विकसित करने के संसाधन और अवसर दोनों प्रदान करना अपेक्षित है। अतएव शिक्षा सम्पूर्ण समाज के लिए होनी चाहिए। स्वामी जी की ऐसी शिक्षा-प्रणाली के उत्पाद के रूप में शारीरिक रूप से सशक्त, संवेगात्मक रूप से सचेत तथा अध्यात्मोन्मुखी व्यक्तित्व का विकास संभव है, जिसका उद्देश्य होगा 'सर्वभूतहितैरताः' अर्थात् सभी प्राणियों के कल्याण के लिए कार्यरत रहना। विवेकानंद की कल्पना ऐसे नवीन समाज की थी, जिसके हर सदस्य के व्यक्तित्व में ज्ञान, क्रिया, भक्ति और एकाग्रता समन्वित रूप से मौजूद हो। ♦

## अहिंसा एवं शांति की संस्कृति

श्री अखिल कुमार राय  
श्री नागेन्द्र नाथ यादव

अहिंसा की संकल्पना प्राचीन भारतीय संस्कृति की अनोखी विरासत है, जिसे समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने अपने जीवन में उतारकर, सम्पूर्ण जगत को एक नवीन राह पर चलने के लिए प्रेरित किया है। अहिंसा एक व्यापक संकल्पना के रूप में देखी जा सकती है। अहिंसा का अर्थ केवल जीव हत्या निषेध ही नहीं है अपितु अहिंसा का अर्थ मन, विचार, वाणी तथा शरीर को संयमित एवं सुसंस्कृत करने से भी है। व्यक्ति के अंदर यदि किसी के प्रति, असामाजिक एवं आपत्तिजनक विचार उत्पन्न हो रहे हैं, तो वह भी एक प्रकार की हिंसा ही है। यदि व्यक्ति ने अपनी वाणी से किसी के हृदय को पीड़ा पहुँचायी है तो यह भी हिंसा की ही श्रेणी में आएगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति के शरीर के द्वारा भी किसी को शारीरिक, मानसिक एवं सांवेगिक कष्ट दिया गया तो वह भी हिंसा का एक रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिंसा का विस्तार व्यक्ति के कर्म के साथ-साथ उसके मानसिक, व्यवहारिक एवं सामाजिक क्रियाकलापों तक फैला है।

अहिंसा के सन्दर्भ में प्रायः यह बात सामने आती है कि जो कुछ नहीं कर सकता, वह अहिंसा का राग अलापता है, परन्तु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। अहिंसा तो वीरों का धर्म है। सम्राट अशोक की वीरता को कौन नहीं जानता। अहिंसा के लिए कायरता नहीं निर्भीकता की आवश्यकता है। इसमें मूक आत्म-बलिदान की परम आवश्यकता है। गाँधी जी ने अहिंसा की प्राचीन संकल्पना को न केवल जनमानस तक पहुँचाकर, उसके प्रति लोगों में आस्था जगायी, बल्कि उन्होंने अहिंसा की संकल्पना को भी साकार किया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से

लेकर भारत तक के अपने सफल अभियान में न सिर्फ बलशाली शत्रुओं को पराजित किया, बल्कि सत्य और अहिंसा द्वारा विजय अभियान के एक नये युग का सूत्रपात भी किया।

एक बार उन्होंने 'यंग इंडिया' नामक पत्रिका में लिखा था "जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा के सिद्धांत को खोज निकाला वे न्यूटन से अधिक प्रखर बुद्धि वाले थे, वे स्वयं वैलिंगटन से अधिक वीर योद्धा थे। स्वयं हथियारों का प्रयोग जानते हुए भी उन्होंने इसकी व्यर्थता को अनुभव किया और उन्होंने युद्ध से दुःखी होकर संसार को बतलाया कि इसकी मुक्ति हिंसा द्वारा नहीं अपितु अहिंसा द्वारा ही है।"

गाँधीजी का जीवन दर्शन वास्तव में अहिंसा का जीवन्त दर्शन है। अहिंसा की सार्थकता को इस बात में देखा जा सकता है कि जब सम्पूर्ण विश्व, गुटों में बँटकर द्वितीय विश्व युद्ध का विनाशकारी खेल, खेल रहा था उस समय भी गाँधीजी ने अहिंसा को ही सर्वोच्च स्थान दिया।

बदलते हुए विश्व परिवेश ने अहिंसा को नजरअंदाज करते हुए अपने आपको शक्ति समृद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के हथियार एवं अस्त्र-शस्त्र बनाये। किसी राष्ट्र को पलक झपकते ही काल के गाल में ढकेल देने वाले परमाणु हथियारों पर बैठी ये दुनिया आज स्वयं इसकी विनाशकता के प्रभाव से भयभीत सशंकित एवं उद्वेलित है। जिन हथियारों ने सदैव मानव के रक्त से इस धारा को रक्त रंजित किया है वे एक बार पुनः इतिहास दुहराने को आतुर हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र हथियारों के निर्माण एवं विशाल सेना के साथ अपनी सीमाएं तो सुरक्षित करने का दिलासा दे रहा



है परन्तु आन्तरिक परिवेश ही अशांति का केन्द्र बनता जा रहा है। आतंकवाद एवं नक्सलवाद आज राष्ट्र विशेष की समस्या न होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन चुका है जिसकी गूँज अखिल विश्व में सुनायी दे रही है। मानवता के अस्तित्व का संकट स्पष्ट दिखने लगा है।

इतिहास साक्षी है कि हिंसा या युद्ध कभी भी विश्व के अग्रणी न रहे हैं और न रहेंगे। मारने-मरने को तैयार जन-मानस कभी स्थायित्व एवं शांति प्रदान नहीं कर सकता। समय के बदलने के साथ स्थितियाँ, विचार, मूल्य एवं जीवन शैली में परिवर्तन स्वाभाविक है। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के दौर में आज हमारे समाज की सम्पूर्ण संरचना तीव्र गति से बदल रही है। वैचारिक हिंसा ने आज अपना साकार रूप दिखाना प्रारम्भ कर दिया है। प्रत्येक प्राणी दूसरे को रौंदकर आगे बढ़ने में जरा भी नहीं हिचकता। भ्रष्टाचार, चोरी, कदाचार, नशाखोरी संबंधों में कटुता, बिखरती पारिवारिक विरासत, मानसिक हिंसा के साथ-साथ सामाजिक विरासत की भी हिंसा का द्योतक है। अपनी जिन विलक्षणताओं के कारण हम 'सर्वधर्म समभाव एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रणेता माने जाते रहे हैं, आज कंधमाल, नंदीग्राम, सिंगूर, गुजरात, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक की घटनाएँ हमें अपने अतीत की ओर झाँकने को विवश करती हैं। कहाँ, क्या कमी रह गयी जो आए दिन ये घटनाएँ घट रही हैं। उत्तर स्वतः मिलता है— हमने हजारों भाभा, अब्दुल कलाम एवं भगत सिंह तो पैदा किए, लेकिन हमने कितने राम, विवेकानन्द और गाँधी पैदा किये। अहिंसा का पाठ जो परिवार से अंकुरित प्रस्फुटित एवं पल्लवित होता है, वहाँ आज खिलौने के रूप में गाँधीजी के तीन बंदर नहीं बल्कि रिवाल्वर एवं बन्दूक उपहार में दिए जाते हैं और ऐसा करके अभिभावक गौरवान्वित महसूस करते हैं।

अहिंसा के प्रथम शर्त के रूप में आत्मविश्वास एवं साहस है जिसके बल पर व्यक्ति महाबलशाली पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय नोआखाली की गलियों में घूम-घूमकर अहिंसा का पाठ पढ़ाने और हिंसा रोकने का साहस किसी सेना एवं ब्रिगेडियर में नहीं बल्कि गाँधीजी में ही था। उस जटिल एवं हिंसक घड़ी में भी गाँधीजी की अहिंसा के प्रति निष्ठा एवं विश्वास इतिहास में बिरले ही कहीं और देखने को मिलता है।

समय के साथ करवटें लेती मानवीय मूल्यों की विरासत आज अपना ही अतीत ढूँढ़ रही है। अहिंसा के लिए सत्य, प्रेम, करुणा, त्याग, परोपकार, समर्पण, सहनशीलता, ईमानदारी एवं ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा अपरिहार्य है। आज की भौतिकवादी एवं संवेदन शून्य होती जा रही मानवता, इन मूल्यों को न तो स्वयं संभाल पा रही है, और न ही अपने आने वाली पीढ़ी को ही दे पा रही है, परिणाम सामने है। घरों में जन्म देने वाली स्त्री, जहाँ उसे स्नेह, वात्सल्य, सुरक्षा, अवसर, संस्कार, रीति-रिवाज, जीवनशैली एवं जीवन की राह दिखाई जाती है, उसी की सुरक्षा के लिए घरेलू हिंसा निवारण अधिनियम हमारी, मानसिक एवं सामाजिक हिंसा को ही रेखांकित कर रहे हैं।

विश्व की कोई ऐसी शक्ति नहीं, ज्ञान का कोई ऐसा पुंज नहीं, तकनीक का कोई ऐसा यंत्र नहीं और ब्रह्माण्ड की कोई ऐसी ऊर्जा नहीं, जो हमारे मन, मस्तिष्क एवं शरीर में एकाएक अहिंसा का भाव भर दें। यह एक साधना है। अहिंसा एक व्रत है, एक योग है, एक पूजा है, एक जीवन दर्शन है जो परिवार, विद्यालय एवं समाज के बीच रहकर ही उत्पन्न हो सकती है। हिमालय पर तपस्या करता ऋषि यदि अहिंसक है तो इसमें आश्चर्य नहीं, परन्तु सर्वशक्ति सम्पन्न व्यक्ति यदि अहिंसा व्रत का पालन करे तो निश्चय ही यह उसकी

विलक्षणता कही जाएगी।

आज के परिवेश में जबकि अमेरिकी महाद्वीप के साथ-साथ अफ्रीका, यूरोप एवं एशिया सभी हिंसात्मक गतिविधियों से जूझ रहे हैं, सभी हथियार, सूचना तंत्र एवं प्रशासनिक क्षमता के बाद भी सार्थक परिणाम सामने नहीं आ पा रहे हैं, ऐसी परिस्थिति में "अहिंसा" ही एक ऐसा अचूक अस्त्र है जिसके द्वारा विश्व शांति की संकल्पना को मूर्त रूप दिया जा सकता है।

गाँधीजी के बारे में आर्नल्ड टॉयनबी ने लिखा है *"मैं जिस पीढ़ी में उत्पन्न हुआ, वह पीढ़ी पश्चिम में केवल हिटलर अथवा स्टालिन की ही पीढ़ी नहीं थी, अपितु भारत में गाँधी की पीढ़ी भी थी। हम कुछ निश्चय पूर्वक यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि मानव इतिहास पर गाँधी का प्रभाव हिटलर और स्टालिन के प्रभाव से अधिक चिरस्थायी होगा"*। टॉयनबी का उपरोक्त कथन आज शत-प्रतिशत अपनी भविष्यवाणी में सफल रहा है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में *"गाँधी दर्शन एवं अहिंसा"* छाया हुआ है।

विश्व युद्धों की विभीषिका को विश्व अभी भूल नहीं पाया है। अतः सभी राष्ट्र मिलकर "अहिंसा" के मार्ग द्वारा शांति की स्थापना चाहते हैं। यही कारण है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ" ने गाँधीजी के जन्म दिवस को "अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस" के रूप में मनाने का संकल्प किया है और 2 अक्टूबर 2007 को विश्व भर में "अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस" मनाया गया। अहिंसा दिवस का अर्थ केवल इस दिन गाँधीजी को याद करना नहीं है बल्कि एक अहिंसा का व्रत लेना है, जिससे भविष्य में हजारों गाँधी अहिंसा एवं सत्य की पताका अखिल विश्व में फहरा सकें। गाँधीजी की अहिंसा नीति का विश्व पटल पर इतना व्यापक असर है कि उनकी प्रतिमा विश्व के सभी प्रमुख देशों में प्रमुख स्थानों

पर स्थापित है।

अहिंसा एवं विश्व शांति हेतु गाँधीजी का आलोक हमें सदैव प्राप्त होता रहा है। शांति स्थापना हेतु प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार सत्य-निष्ठा, काम के प्रति ईमानदारी, पारदर्शिता तथा अपने दायित्वों के निर्वहन का व्रत अपनाना होगा। इससे वे किसी अन्य का नहीं बल्कि स्वयं का ही कल्याण करेंगे। बूँद-बूँद से सागर भरता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के मूल्यपरक जीवन से आधी समस्याएँ तो स्वतः समाप्त हो जाएंगी। शैक्षिक संस्थाओं का उत्तरदायित्व आज महत्त्वपूर्ण हो गया है। कोमल, किशोर एवं ऊर्जावान युवा-शक्ति में अहिंसा एवं सत्य के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों का विकास शैक्षणिक कार्यक्रमों एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं के माध्यम से किया जा सकता है। शैक्षिक संस्थाओं एवं परिवार के मध्य मधुर एवं अटूट सम्बन्ध बना रहना चाहिए जिससे राष्ट्र के भावी नागरिकों का उचित विकास हो सके और उनमें भटकाव की स्थिति न आये।

इस प्रकार अहिंसा के द्वारा ही हम अपनी विश्व की शांति को साकार रूप दे सकते हैं।

*बना लिए हथियार बहुत से,  
सजा लिए बारूद के ढेर।  
बन बैठे शक्ति के स्वामी,  
फिर भी नहीं रुका अंधेर॥  
सुलग रहे बारूद घरों में,  
उजड़ रही मार्गें चहुँ ओर।  
खून भरी दीवाली से,  
हाहाकार मचा घनघोर॥  
हार मानकर दुनिया देखे,  
'बापू' के संदेश सनातन।  
सत्य, अहिंसा, प्रेम से ही,  
बच पायेगा मानव जीवन॥  
व्रत है अहिंसा, धर्म अहिंसा,  
कहे सकल संसार अहिंसा।  
'विश्व शांति' के अग्रदूत,  
गाँधी का हथियार अहिंसा॥ ♦*



## मूल्योन्मुखी शिक्षा : मिथक एवं यथार्थ

डॉ० ओंकार सिंह

वर्तमान समय में मानव जीवन में जो सांस्कृतिक व बौद्धिक विचार धारा प्रवाहित हो रही है, उस पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का रंग स्पष्टतया देखा जा सकता है। औद्योगिक, पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क व वैज्ञानिक एवं तकनीकी के विकास से मानव दिल एवं दिमाग के बीच खाई की स्थिति पैदा हो गयी है। अनिर्णय एवं भौतिकता की इस चकाचौंध में निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु लोगों में अशान्ति, निराशा, भय, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि बातों का जन्म हुआ है। कर्तव्यपरायणता एवं ईमानदारी आदि गुणों का क्षरण हुआ है। सामान्य व्यक्ति की धारणा है कि मेहनतकश एवं ईमानदार व्यक्ति पिस रहे हैं और झूठ-फरेब का रोजगार करने वाले फल-फूल रहे हैं। इस धारणा से मानवीय नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्यों से लोगों का विश्वास उठ गया है, जिससे मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। किन्तु समाज केवल भौतिक मूल्यों से ही संचालित नहीं हो सकता, क्योंकि भौतिक मूल्य की प्रकृति कागज के फूल जैसी है, जिसमें सहज सुगन्ध नहीं होती। अतः उत्कृष्ट आध्यात्मिक वातावरण सृजित करने हेतु सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठता निर्धारित कर उन्हें आत्मसात् करने की आवश्यकता है। शिक्षा ही वह सशक्त माध्यम है, जिससे मानवीय मूल्यों का संरक्षण एवं सम्वर्धन किया जा सकता है, जिस पर चलकर मनुष्य वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है।

मानवीय मूल्य आचरण तथा व्यवहारों के मानदण्ड होते हैं। पं० दीनदयाल उपाध्याय के शब्दों में "शिक्षा एवं संस्कार से जीवन मूल्य बनते एवं सुदृढ़ होते हैं"। प्रोफेसर अर्बन की पुस्तक "फण्डामेंटल ऑफ एथिक्स" में लिखा है कि मूल्य

वह हैं, जो मानव इच्छा को तृप्त करें एवं व्यक्ति व उसकी जाति के संरक्षण में सहायक हों। उनके अनुसार केवल वही परमरूप से और साध्यरूप में मूल्यवान है, जो आत्माओं को विकास या आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाये। मूल्य मानव व्यक्तित्व के अन्तर्निहित भागों में निहित होते हैं। मूल्य वे मानदण्ड होते हैं, जिनके द्वारा लक्ष्यों का चुनाव किया जाता है। ऐसी बातें जिसे समाज स्वीकार करता हो, जिसे करने के लिए प्रेरित करता हो, मूल्य कहलाते हैं। मूल्य हमारे जीवन के पथप्रदर्शक सिद्धान्त हैं, जो न केवल व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के विकास में सहायक होते हैं, बल्कि इससे सम्पूर्ण समाज का कल्याण भी सम्भव होता है।

इस प्रकार मानव मूल्य एक ऐसी आचार संहिता (Code) या सद्गुणों का समूह हैं, जिसे अपने संस्कारों तथा पर्यावरण के माध्यम से अपना कर मनुष्य अपने निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन शैली का निर्माण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसमें मनुष्य की अवधारणायें, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था या निष्ठा समाहित होते हैं। ये मानव मूल्य एक ओर व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा नियन्त्रित होते हैं तो दूसरी ओर संस्कृति एवं परम्परा द्वारा पोषित होते हैं। "बहुजन सुखाय" इन जीवन मूल्यों की कसौटी मानी जाती है।

### मूल्यों के लक्षण —

मूल्यों में अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। इसमें से कुछ निम्नवत् हैं—

1. मूल्य वस्तुओं के महत्त्व के बारे में विचार हैं।
2. मूल्य प्रत्यय, अमूर्तीकरण व भावनाएं भी हैं तथा उनके संज्ञानात्मक, अनुभवात्मक व क्रियात्मक

पक्ष हैं।

3. मूल्य सशक्त सांवेगिक वचनवद्धता भी हैं। व्यक्ति जिस चीज को मूल्यवान मानता है, उसे अत्यधिक पसन्द करता है व उसकी बहुत चिन्ता रखता है।

4. सभी विचारों की भाँति मूल्यों का अस्तित्व अनुभव के क्षेत्र में नहीं, वरन् लोगों के मन में है।

5. बिना तर्क के मूल्य अन्धे होते हैं, बिना भावनाओं के वे अशक्त होते हैं तथा बिना कार्यों के वे खाली होते हैं।

6. यद्यपि मूल्य भावना या संवेग नहीं हैं, तथापि उनमें इच्छाएँ व भाव निहित हैं। वे अपने आप में विश्वास या निर्णय नहीं हैं, परन्तु वे चिन्तन में तथा उसके माध्यम से प्रकट होते हैं।

7. वस्तुओं के महत्त्व की जाँच के लिए उन्हें स्पष्ट मानदण्ड के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

8. मूल्य जीवन का एक अंश हैं। वे अधिक जटिल जीवन परिस्थितियों में कार्यशील होते हैं। इनमें प्रायः अच्छे या बुरे, सत्य या असत्य, सही या गलत, जैसी अति-स्थितियाँ निहित होती हैं।

9. जिन दशाओं में व्यवहार निर्देशित होता है तथा मूल्य कार्य करते हैं, उनमें व्यक्ति विरोधी मांगों की परख व उनमें संतुलन करने की क्रियाएँ निहित होती हैं।

10. मूल्य अहं-संरक्षक, समायोजनात्मक ज्ञान व आत्मानुभूति भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं।

11. मूल्य निरन्तर अनुभवों से सम्बन्धित होते रहते हैं तथा अनुभव ही उन्हें रूप देते हैं व उनकी जाँच करते हैं।

12. मूल्य यदा-कदा ही विशुद्ध तथा अमूर्त रूप से कार्य करते हैं।

13. मूल्य का परिमाणात्मक व गुणात्मक आँकलन सम्भव है।

14. मूल्य विश्वास तथा आचरण के आभ्यान्तरीकृत

प्रतिमानों के रूप में वैयक्तिक या सामूहिक चयन के मानक हैं।

15. सभी मूल्य सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं।

**मूल्य-तन्त्र -**

जैसे-जैसे मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार की जीवन पद्धति विकसित करने हेतु प्रयत्न करता है, उसे मूल्यों को श्रेणीकृत करने की आवश्यकता महसूस होती है। मानव जीवन मूल्य आवेशित है। मूल्यों का अस्तित्व स्व की रचना से मेल खाता है। व्यक्ति द्वारा निर्धारित मूल्य प्राथमिकताओं के विवरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि वे समय तथा वैयक्तिक अनुभवों में चिन्तन, क्रिया व भाव से किसी प्रकार भिन्न हैं। चेतना में एकता होती है।

जब व्यक्ति किसी मूल्य को सीख लेता है, तब वह मूल्य एक संगठित मूल्यतन्त्र में समाकलित हो जाता है। इस मूल्य तन्त्र में प्रत्येक मूल्य अन्य मूल्यों के सन्दर्भ में प्राथमिकता के क्रम में व्यवस्थित होता है। व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन तब होता है, जब उसकी मूल्य प्राथमिकताओं के क्रम में परिवर्तन होता है। इस पूरे मूल्यतन्त्र में पर्याप्त स्थायित्व होता है तथा इससे किसी विशिष्ट समाज व संस्कृति में समाजीकृत अनोखे व्यक्तित्व की समानता व निरन्तरता का पता चलता है। वैयक्तिक, सांस्कृतिक व सामाजिक अनुभवों में भिन्नता के कारण मूल्यतन्त्रों में वैयक्तिक भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। इन वैयक्तिक भिन्नताओं के लिए व्यक्ति विशेष के साथ पूर्ण-अंश तादात्मीकरण, धार्मिक आस्था, लालन-पालन शैली, संस्थागत एवं सांस्कृतिक मूल्यों का आभ्यान्तरीकरण, बौद्धिक विकास, समाज की माँग आदि उत्तरदायी हैं।

**मूल्य द्वन्द्व -**

सभी व्यक्तियों के मूल्यतन्त्र एक जैसे नहीं होते हैं। व्यक्ति के विभिन्न मूल्यों के प्राथमिकता के



क्रम में भी एक व्यवस्था होती है। व्यक्ति के दो या अधिक मूल्यों में किसी परिस्थिति में विरोध भी हो सकता है। ऐसे द्वन्द्वों का सामना व्यक्ति अपने जीवन में अनेक बार करता है। अनेक बार वह द्वन्द्वों का ठीक से सामना नहीं कर पाता है क्योंकि विरोधी मूल्यों के प्रति उसकी आस्था व समान प्राथमिकता निर्णय लेने में बाधक होती है। मूल्य द्वन्द्व जीवन की एक वास्तविकता है। मूल्य द्वन्द्व अन्तर वैयक्तिक तथा अन्तः वैयक्तिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। दो विरोधी परन्तु प्रबल इच्छाओं के कारण व्यक्ति दो व्यवहार करने के लिए स्वयं को खिंचा हुआ महसूस करता है। दबाव की स्थिति यथाशीघ्र समाप्त करने की कोशिश होनी चाहिए, अन्यथा व्यक्ति का समायोजन व व्यवहार कुप्रभावित हो सकता है।

### शिक्षा में मानवीय मूल्य—

भारतीय विचारकों ने मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन एवं शिक्षा को मूल्योन्मुखी बनाने हेतु सार्वभौमिक शिक्षा में मानवीय मूल्यों का प्रतिपादन किया है, जिनकी संख्या पाँच है। ये मानव जीवन के पंचरत्न हैं, जो निम्नवत् हैं—

1. सत्य 2. धर्म 3. शान्ति 4. प्रेम 5. अहिंसा

उपरोक्त पाँचों मानवीय मूल्य, मनुष्य जीवन के पाँच पक्षों से सम्बन्धित हैं—

1. शारीरिक पक्ष 2. बौद्धिक पक्ष

3. संवेगात्मक पक्ष 4. मनः पक्ष

5. आध्यात्मिक पक्ष

उपरोक्त मूल्य एक दूसरे के बिना एकांगी एवं अपूर्ण हैं। मूल्यों के अन्तर्सम्बन्ध के आधार पर ही कहा जा सकता है कि प्रेम वैचारिक धरातल पर सत्य है, क्रिया आधारित प्रेम ही धर्म है, प्रेम भावनात्मक धरातल पर शान्ति है और प्रेम समझ स्तर पर अहिंसा है। अतः मानवीय मूल्य मानवता के आधार पर अन्तर्सम्बन्धित एवं अविच्छेदित हैं। सत्य ही

अन्य मूल्यों का उद्गम श्रोत है।

“सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम एवं अहिंसा आदि मानवीय मूल्यों बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है।”

—श्री सत्य साई बाबा

### मूल्योन्मुख शिक्षा

सही अर्थों में मूल्योन्मुख शिक्षा की प्रक्रिया बिना मूल्यों के आधार पर पूरी नहीं हो सकती। शिक्षा के समस्त कार्यक्रमों में मूल्य जुड़े हुए होते हैं। वस्तुतः मूल्य न तो कौशल हैं और न ही ज्ञान का अंश हैं, जिन्हें सीखा जाये। यह तो आस्था व विश्वास हैं, आदर्श और प्रतिबद्धतायें हैं, जिनका सम्बन्ध मानसिक और मनोवैज्ञानिक निर्माण से है। यह अर्जित की जा सकने वाली ज्ञान की ईकाई नहीं, यह तो अपनायी और आदत व व्यवहार में अभिव्यक्त मानक तत्व हैं। इसका सम्बन्ध अभिवृत्तियों एवं आदतों से होता है। इसका तात्पर्य यह कि मूल्य को सीखा नहीं, जीया जाता है, जो सत्य में विश्वास करता है और आस्था रखता है, वह अपने आचरण, व्यवहार एवं अभिव्यक्ति में भी इसका पालन करता है। अतः आवश्यक है कि शिक्षा में मूल्यों का समावेश इस प्रकार किया जाये कि वे छात्रों की अभिव्यक्ति, आदत एवं व्यवहार में जुड़ जायें।

मूल्यपरक शिक्षा से अभिप्राय उस शिक्षा से है, जिसमें हमारे नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य समाहित हों। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों में मनोवैज्ञानिक ढंग से मूल्य समाहित करके इन्हें छात्र के व्यक्तित्व में समाहित करने पर बल दिया जाता है।

मूल्यों के अभाव में मानवीय सम्पर्कों में सहजता समाप्त हो जाती है। कृत्रिमता का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। यही कारण है कि आज वैज्ञानिकता ने जहाँ हमारी बौद्धिक शक्ति बढ़ाई है, वहीं उसने आध्यात्मिकता को छीन लिया है। सहज

जीवन गया और हम बनावटी मुखौटों के सहारे जीने को बाध्य हो गये। आज उपभोक्तावादी संस्कृति ने हमारी चेतना को निस्तेज व निष्प्रभ कर दिया है, जो अच्छे एवं बुरे में विभेद करने में असमर्थ महसूस करते हैं। इस संक्रमण काल में कर्तव्य या कार्य संस्कृति के स्थान पर उपभोक्ता संस्कृति ने अपना स्थान ले लिया है। आधुनिक दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में मार्क्सवाद, व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद, भौतिकवाद का प्रचार-प्रसार एवं आधुनिक विकासवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण आध्यात्मिकता एवं आस्था की भावना का प्रायः लोप हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में सभ्य समाज हेतु शाश्वत जीवन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए शिक्षा को मूल्योन्मुखी बनाना आवश्यक है।

विद्यालय स्तर पर मूल्यपरक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए—

1. छात्रों में सहयोग, प्रेम एवं करुणा, शान्ति एवं अहिंसा, साहस, समानता, बन्धुत्व, श्रमगरिमा एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना।
2. छात्रों को एक जिम्मेदार नागरिक बनने के लिए प्रशिक्षित करना।
3. राष्ट्रीय लक्ष्यों—समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता, लोकतंत्र का सही ढंग से बोध कराना।
4. देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में जागरूक बनाना तथा उनमें वांछित सुधार लाने को प्रोत्साहित करना।
5. स्वयं एवं अपने मित्रों के प्रति, स्वदेश के प्रति, मानवता के प्रति, सभी धर्मों व संस्कृतियों के प्रति एवं मानवीय जीवन मूल्यों व पर्यावरण के प्रति समुचित दृष्टिकोण विकसित करना।

**मूल्योन्मुखी शिक्षा के उपागम—**

मूल्योन्मुख शिक्षा अनिवार्य या ऐच्छिक रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित करके नहीं दी जा सकती है। मूल्य—शिक्षा, अन्य विषयों की

भांति कुछ व्याख्यान आयोजित करके, धार्मिक प्रार्थना, मंत्र, सदप्रवचनों आदि के माध्यम से भी नहीं दी जा सकती है बल्कि यह एक व्यापक कार्यक्रम है। यह मानव निर्माण का सजीव विज्ञान है, जिसमें कार्यात्मक रूप में आध्यात्मिकता, विज्ञान तकनीकी, सामाजिक कार्य, आधुनिकता, अन्तर्राष्ट्रीयवाद एवं वैज्ञानिक मानवतावाद को सम्मिलित किया जाता है। यह केवल स्कूल पाठ्यक्रम में ही नहीं, वरन् कालेज, विश्वविद्यालय, अनौपचारिक शिक्षण संस्थाओं एवं शोध केन्द्रों में भी सम्मिलित करके शिक्षा में मानवीय मूल्य कार्यक्रमों से सकारात्मक अभिवृत्तियों को विकसित एवं नकारात्मक अभिवृत्तियों का सकारात्मक अभिवृत्तियों में रूपान्तरण किया जाता है।

शिक्षा में मानवीय मूल्य कार्यक्रमों के अन्तर्गत नकारात्मक अभिवृत्तियों को सकारात्मक अभिवृत्तियों में रूपान्तरण करने के लिए निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया जाता है—

1. विद्यालयी विषयों तथा पाठ्यक्रमों द्वारा मूल्यपरक शिक्षा
2. पाठ्य सहगामी क्रियाओं द्वारा मूल्यपरक शिक्षा
3. अप्रत्यक्ष विधि
4. प्रत्यक्ष विधि

विद्यालयी विषयों तथा पाठ्यक्रमों द्वारा मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करने हेतु पाठ्यवस्तुओं में निहित सामग्री, जिसके माध्यम से विभिन्न नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, संवैधानिक, आध्यात्मिक आदि मूल्यों का विकास किया जा सके, समावेशित किया जाता है।

“राष्ट्रीय स्तर पर कोर पाठ्यक्रम के अंग के रूप में मूल्यपरक शिक्षा का भी पाठ्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। विविध मूल्यों के आत्मसातीकरण के लिए उपयुक्त प्रविधियां भी निर्धारित करनी होंगी ताकि मूल्य केवल विमर्श की वस्तु न रह

जायें। अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी अन्तः क्रियाओं के माध्यम से छात्रों में मूल्यों के विकास की पहल की जाय, जिससे विविध मूल्य उनकी वैयक्तिक मूल्य प्रणाली में समाहित हो जायें और वे अपनी एक निश्चित जीवन दृष्टि बना सकें।

—नयी शिक्षा नीति-1987

पाठ्य सहगामी क्रियाओं द्वारा मूल्यपरक शिक्षा को स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाना, शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है, बल्कि विभिन्न विषयों में क्रियाकलापों तथा व्यवहारों को मूल्योन्मुख बनाकर सकारात्मक अभिवृत्तियों का निर्माण किया जाता है। पाठ्य सहगामी क्रियाओं के अन्तर्गत खेल कूद, एन0सी0सी0, स्काउटिंग-गाईडिंग, कहानी कथन, प्रार्थना सभा, समूहगान, समाज सेवा, श्रमदान, उत्सव आयोजन आदि का समावेश होता है।

“मूल्यों को पढ़ाया नहीं जाता है, वरन् पकड़ा जाता है” (Values are not taught, But Caught) अतः अप्रत्यक्ष रूप में विद्यालय का समग्र वातावरण मूल्यों के आत्मसातीकरण के लिए प्रेरणा दे, जिसमें बालक रहकर उनको ग्रहण करने में समर्थ हो। इस प्रणाली या प्रविधि को समग्र वातावरणीय उपागम कहा जाता है। अप्रत्यक्ष प्रणाली में मौन बैठक, प्रार्थनायें, कहानी कथन, नाटक, समूहगान एवं सामूहिक गतिविधियाँ—पात्र अभिनय, खेल, सेवाकार्य, देशाटन आदि को रखा जा सकता है।

“विद्यालय वातावरण, शिक्षकों के व्यक्तित्व एवं व्यवहार तथा विद्यालय में उपलब्ध भौतिक सुविधायें छात्रों को मूल्योन्मुख बनाने में विशेष भूमिका निभाते हैं। हम इस बात पर बल देना चाहेंगे कि विविध मूल्यों के प्रति जागृति विद्यालय के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम एवं समस्त गतिविधियों को प्रभावित करे। विद्यालय में प्रातःकालीन सभा, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यसहगामी गतिविधियाँ या क्रियायें, सभी धर्मों के धार्मिक उत्सवों का आयोजन, कार्यानुभव, खेल-कूद, विषय क्लब,

समाज सेवा—ये सभी छात्रों में पारस्परिक सद्भाव, निष्ठा एवं ईमानदारी, अनुशासन एवं सामाजिक दायित्व इत्यादि जीवन मूल्यों को आत्मसात् कराने में सहायक होते हैं।”

—शिक्षा आयोग (1964-66)

प्रत्यक्ष प्रविधि के अन्तर्गत मूल्यपरक शिक्षा का शिक्षण नैतिक शिक्षा के रूप में पाठ्य पुस्तकें निर्धारित करके, स्वतंत्र विषय के रूप में नियमित कालखण्डों की व्यवस्था करके किया जाता है।

### आलोचनात्मक मूल्यांकन

सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों—सत्य, धर्म, प्रेम, शान्ति, अहिंसा के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है क्योंकि शिक्षा एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्य एक दूसरे के पूरक हैं। निष्कर्षतः मूल्योन्मुखी शिक्षा सिर्फ सैद्धान्तिक अवधारणा मात्र न होकर, आचरणयुक्त व्यवहार है, क्योंकि मूल्यों को पढ़ाया नहीं जाता है, वरन् पकड़ा जाता है। मूल्यों की प्रस्तुति निर्देशात्मक न होकर, अन्वेषणात्मक होनी चाहिए। वास्तव में शिक्षा आन्तरिक एवं परिभाषात्मक रूप से मूल्योन्मुखी है, लेकिन शिक्षा एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों में सम्बन्ध विच्छेद सा हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है। इन सन्दर्भों में मूल्योन्मुखी शिक्षा द्वारा विश्वसनीयता के संकट, मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन एवं मानव जीवन की गुणवत्ता को सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों से समन्वय स्थापित कर रोका जा सकता है क्योंकि मूल्योन्मुखी शिक्षा जीवन जीने की पद्धति एवं जीवन की प्रयोगशाला है। ♦

“विद्यार्थियों के लिए तीन शब्दों का संदेश पर्याप्त है— शक्ति, शक्ति और शक्ति। पहली शक्ति—शारीरिक, दूसरी शक्ति—मानसिक और तीसरी शक्ति—आत्मिक”

○ मालवीय जी



## श्रद्धा का जीवन-संगीत

प्रो० अवधेश प्रधान

श्रद्धा कामायनी का केन्द्रीय पात्र है। वह काम गोत्र की कन्या है, इसलिए उसे कामायनी भी कहते हैं। काम गोत्र की कन्या होने का अर्थ है, श्रद्धा इच्छाशक्ति का परिणाम है। श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास। नचिकेता के पिता वाजश्रवा यज्ञ में दक्षिणा के रूप में बूढ़ी-बिसुकी हुई गायें दान कर रहे थे, यह देखकर नचिकेता के मन में 'श्रद्धा' का आविर्भाव हुआ। 'श्रद्धा' यही शब्द आता है कठोपनिषद् में। श्रद्धा का आविर्भाव होते ही नचिकेता विचार करने लगा — बहूनामेमि प्रथमः इत्यादि, मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूँ, बहुतों से छोटा हूँ, लेकिन सबसे छोटा तो कतई नहीं हूँ, मैं भी कुछ कर सकता हूँ। मैं भी कुछ कर सकता हूँ — यही भाव श्रद्धा है। यह शब्द स्वामी विवेकानन्द को अत्यंत प्रिय है, अपने अंग्रेजी व्याख्यान में भी वे इसी संस्कृत शब्द का उच्चारण करते हैं, उसका अंग्रेजी अनुवाद करना गलत समझते हैं। कामायनी की नायिका श्रद्धा इसी श्रद्धा भाव की मानवमूर्ति है जो जीवन से निराश मनु को जीवन के प्रति श्रद्धा या आत्मविश्वास का संदेश देती है।

कामायनी का आरंभ मनु की 'चिंता' से होता है। प्रलय में समूची देव सभ्यता का नाश हो गया है, चारों ओर ऊँची-ऊँची लहरें हिमालय के पाद-देश से टकरा रहीं हैं और उसी की एक चट्टान पर चतुर्दिक छाये हिम की छाया में अकेला मनु चिंता में मग्न है — हाय! देव सभ्यता का सारा भोग-विलास, ऐश्वर्य जल में विलीन हो गया और हम कुछ न कर सके। नियति के आगे आदमी कितना कमजोर है, कितना लाचार है। अब कुछ किया नहीं जा सकता। धीरे-धीरे जल प्लावन घटता है, पृथ्वी जल से बाहर आने लगती

है, जहाँ-तहाँ वनस्पतियाँ उगने लगती हैं, आशा का संकेत मिलने लगता है लेकिन मनु के मन में हताशा और विषाद का बसेरा है। तभी हिमालय के उत्तरी क्षेत्र से, गंधर्व प्रदेश से गंधर्व जाति की एक कन्या घूमती-घामती उधर को निकल आती है। दोनों की भेंट होती है। श्रद्धा मनु के अकेलेपन और विषाद को लक्ष्य कर लेती है और उसका कारण पूछती है, मनु विस्तार से प्रलयकालीन विनाश और विध्वंस, मृत्यु और शोक के परिदृश्य में अपनी घोर हताशा को व्यक्त करता है — धरती और आकाश के बीच शून्य में जलते उल्कापिंड की तरह फिर रहा हूँ, मैं पर्वत से निकलकर बहने वाला झरना भी नहीं हो सका, मेरा जीवन ऐसा कठोर हिमखंड बन गया जो न गला, न गलकर जल के रूप में दौड़कर समुद्र के अंक से मिला। मैं नील गगन के विवर में भटकती हुई एक वायुतरंग के समान हूँ। जीवन पहली की तरह उलझ गया है, बस विस्मृति के मार्ग पर अनजान की तरह चल रहा हूँ, जीवन का कोई गंतव्य नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, चारों ओर सूनापन है, उजाड़ है, समूचा जीवन जड़ हो गया है, जड़ता की राशि में बदल गया है।

मनु ने जो दुःख और अवसाद का, विरक्ति और विषाद का बाना ओढ़ लिया है उसी को तप और त्याग समझ लिया है, अपनी कमजोरी को उसने एक दार्शनिक रूप दे दिया है। श्रद्धा सबसे पहले उसके इसी दार्शनिक छद्म पर प्रहार करती है, उसे 'तपस्वी' कहकर पुकारती है — तपस्वी, क्या तुम्हारे हृदय में जीने की लालसा बिल्कुल नहीं रह गई है? या तुम अपने सहज रुझान को इनकार करके अपने आप को धोखा दे रहे हो — 'कर रहा वंचित कहीं न त्याग, तुम्हे मन में धर सुंदर वेश'?



तुम्हें जीवन से ही अरुचि हो गई है और उसी को तुमने दार्शनिकता का बाना पहना रखा है! ऐसे ही कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को विरक्ति पैदा हुई थी लेकिन यह विरक्ति निर्मल ज्ञान का या सत्त्व गुण का परिणाम नहीं थी। स्वामी विवेकानंद कहते हैं, "अर्जुन में युद्ध से विरति विशुद्ध सत्त्व गुण की अति प्रबलता के कारण पैदा नहीं हुई। अनिच्छा पैदा होने का कारण बिलकुल तमस् था।..... तमोगुण को अपने को सत्त्व के वेश विन्यास में दिखाना बहुत प्रिय है। यहाँ महायोद्धा अर्जुन में वह तमस् दया (करुणा) के छद्मवेश में आया है।" (विवेकानंद साहित्य, खंड 7, पृ० 319-20) तमोगुण अर्जुन के मन में करुणा के वेश में घुस आया था तो मनु के मन में वह तप-त्याग के वेश में घुस आया है। श्रद्धा सबसे पहले उसके इसी दार्शनिक छद्म का पर्दाफाश करती है। तप-त्याग जीवन में अपना विशिष्ट मूल्य रखता है लेकिन वह जीवन का संपूर्ण सत्य नहीं है; निवृत्ति मार्ग भी एक मार्ग है लेकिन वह जीवन का एकमात्र मार्ग नहीं है। और फिर मनु ने जिसे जीवन का सत्य समझ लिया है वह तो 'क्षणिक दीन अवसाद' मात्र है — "तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद" यह दीन अवसाद तप-त्याग का बाना ओढ़ लेता है, और इस तप-त्याग के मार्ग का, निवृत्ति के मार्ग का आधार है जगत् की अनित्यता का बोध। संसार क्षणभंगुर है, इसे छोड़कर वन और कंदरा की शरण लो। श्रद्धा इस दर्शन के विपरीत जगत् की सत्यता का, संसार की स्वीकृति का, दर्शन प्रस्तुत करती है— यह संसार स्वयं महाचिति या परम चेतना की अभिव्यक्ति है, उसी से विश्व का उन्मीलन हुआ है, संसार में उसकी लीला का आनंद भरा हुआ है, उसके प्रति सबका आकर्षण स्वाभाविक है। और जिस काम को तुम दुःख का मूल समझते हो वह 'मंगल से मंडित श्रेय' है, वह प्रेयस है लेकिन मंगल

से मंडित होकर श्रेयस में परिणत हो जाता है। काम इच्छा ही तो है! इच्छा भी एक शक्ति है और यह संसार, यह सृष्टि उसी इच्छा शक्ति का परिणाम है! यदि तुम उसकी उपेक्षा करते हो तो उससे सांसारिक जीवन असफल हो जाता है —

**काम मंगल से मंडित श्रेय,**

**सर्ग इच्छा का है परिणाम।**

**तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,**

**बनाते हो असफल भवधाम॥**

यहाँ जगत् और जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण के विपरीत एक समग्र सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत है। जयशंकर प्रसाद शैवागम को मानते थे; बौद्धों के दुःखवाद के विपरीत उन्होंने शैवागम के आनंदवाद का आख्यान किया है — कला और कविता की भाषा में।

लेकिन संसार तो दुःख से भरा है। यह कैसा 'लीलामय आनंद' है जिसमें रात दिन दुःख है, मृत्यु है, शोक है? श्रद्धा कहती है, संसार में सुख और दुःख दोनों मिले हुए हैं। दुःख की रात के बाद सुख का सवेरा भी आता है — दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात ! सवेरा रात के गर्भ से ही आता है, सुख भी दुःख के भीतर से आता है। दुःख मानो एक झीना नीला परदा है जिसमें सुख अपने को छिपाए हुए है। जिसे तुम जगत् की ज्वालाओं का मूल समझते हो, "ईश का यह रहस्यमय दान" है। समूचा संसार विषमता (सुख और दुःख) की पीड़ा से स्पंदित हो रहा है। दुःख और सुख के विकास का यही सत्य है, "यही भूमा का मधुमय दान" है। विषमता (दुःख — सुख) अनित्य है, समरसता नित्य। समुद्र एक है, समरस है, ऊपर व्यथा की लहरें हैं, और उन्हीं के भीतर सुख की मणियाँ हैं। दुःख और सुख दोनों को भगवान की देन मानकर स्वीकार कर लो।

लेकिन मनु की निराशा जाती नहीं। **जीवन**

की विवशता का, लाचारगी का एहसास जाता नहीं — “किन्तु जीवन कितना निरुपाय, लिया है देख नहीं संदेह!” प्रलयकालीन विध्वंस का भयावह अनुभव और उससे उपजी हताशा जाती नहीं। तब श्रद्धा ने उससे सच्ची सहानुभूति जतलाते हुए स्नेह से कहना शुरू किया—“अरे! तुम इतने अधीर हो उठे? तुम इतनी आसानी से जीवन का दांव हार बैठे जिसे जीतने को शूर-वीर मृत्यु को भी गले लगा लेते हैं? तुम्हारा यह दीन भाव वीरोचित नहीं है। कृष्ण ने अर्जुन से क्या कहा था? पार्थ, यह क्लीबता छोड़ो—क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ—यह तुम्हें शोभा नहीं देता—नैतत् त्वय्युपपद्यते—वह क्लीबता है, बिरोचित नहीं है। फिर भी श्रद्धा ने मनु का ध्यान प्रकृति की ओर खींचते हुए कहा—प्रकृति की ओर देखो, यह पुरातनता की केंचुल को पल-भर भी बर्दाश्त नहीं कर पाती, नित्य नूतन बनी रहती है, वह कभी बासी फूलों से अपने यौवन का श्रृंगार नहीं कर पाती, बासी फूल धूल में मिल जाते हैं और उनकी जगह नए फूल आ जाते हैं। परिवर्तन का जो नियम प्रकृति में काम कर रहा है, वही सामाजिक विकास में भी काम कर रहा है। एक युग के बाद दूसरा युग आता है और सृष्टि हर युग पर अपने पद-चिह्न छोड़ती हुई आगे बढ़ती जाती है और उसके पीछे-पीछे देव, गंधर्व, असुर आदि जन-समुदायों की कतार की कतार चलती रहती है; विकास का क्रम चलता रहता है, अपने प्राकृतिक वैभव से भरपूर यह विस्तृत भूमि तुम्हारे सामने पड़ी है, यह कर्मभूमि है, भोगभूमि है, यहाँ भोग के लिए कर्म और कर्म के लिए भोग का अनवरत क्रम चलता रहता है। ऊपर से देखो तो यह जड़ है लेकिन मनुष्य अपनी कर्मशक्ति से इसमें ‘चेतन आनंद’ भी देता है — “कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनंद!” कर्म और भोग का समन्वय। अदभुत विचार है यह। यह जीवन से भागने के बजाय जीवन को भोगने का

दर्शन है लेकिन निरा भोग नहीं, भोग और कर्म का समन्वय—यह श्रद्धा का जीवनवाद है। कर्म और भोग का समन्वय जीवन को यज्ञ बना देता है और यज्ञ अकेले नहीं किया जा सकता। उसे अपने स्वार्थ तक सीमित करना तुच्छ विचार है। सबको साथ लो और सबके लिए यज्ञ करो, कर्म—यज्ञ करो, यह आत्मविस्तार का रास्ता है—“तपस्वी! आकर्षण से हीन, कर सके नहीं आत्म-विस्तार।”

मनु को अपनी सेवा और समर्पणभावना का साहचर्य और सहयोग का दृढ़ विश्वास दिलाकर श्रद्धा अब उसे मानवी सृष्टि के नए युग का निर्माण करने को ललकारती है — सुनो, विधाता का मंगल वरदान सुनो, वे कह रहे हैं — शक्तिशाली हो, विजयी बनो। धन, सम्पत्ति का नहीं, दीर्घायु का नहीं, शक्ति का वरदान। विवेकानंद कहते हैं, “मैं तुमसे कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि समस्त संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनर्जीवित, सशक्त और वीर्यसंपन्न हो सकता है।” (वि० सा०, खंड 5, पृ० 133) समस्त शक्ति मनुष्य के भीतर ही मौजूद है, इसका विश्वास दिलाने की जरूरत है। उसके भीतर सभी शक्तियों का आधार आत्मा का निवास है जो अमर है इसीलिए वह अमृत की संतान है, विवेकानंद वैदिक ऋषियों की यह ललकार अक्सर सुनाते रहते हैं — श्रण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। श्रद्धा भी वही भाषा बोलती है — डरो मत अरे अमृतसंतान! डरो मत — माभैः। विवेकानंद हमेशा शक्ति और निर्भयता की बात करते हैं — “केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए ‘अभीः’ विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें ‘अभीः’ निर्भय होना होगा तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे।” (वि० सा०, भाग 5, पृ० 212) जपुजी साहिब में जो

‘अकाल मूरति’ है वह ‘निर्भय और निरवैर’ है। कबीर का सत्य निर्भय सत्य है — अनभै साँचा। निर्भयता भारतीय संस्कृति का एक महान मूल्य है। श्रीकृष्ण ने गीता में दैवी संपत्तियों को गिनाते हुए सबसे पहले ‘अभय’ का उल्लेख किया है — अभयं सत्वसंशुद्धिः आदि। आचार्य विनोबा ने ‘अभय’ को दैवी गुणों की सेना का सेनापति कहा है। श्रद्धा ने भी ललकारा — डरो मत अरे अमृतसंतान, अग्रसर है मंगलमय वृद्धि। जीवन का केन्द्र आकर्षण शक्ति से पूर्ण है, समूची समृद्धि उसकी ओर खिंची चली आएगी। देवसभ्यता की असफलताओं का ध्वंसावशेष नई सभ्यता का उपकरण बन जाएगा, पुरानी भीत जो गिर गई है उसी के मलवे से नई भीत उठेगी, जो उसकी उपलब्धियाँ हैं, वह मनुष्यता की धरोहर हैं। उसके प्रति यह एक संतुलित वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। श्रद्धा के संदेश में यह मंगलकामना है कि विधाता की कल्याणी सृष्टि इस भूतल पर पूर्ण हो। समुद्र पट जाएँ, ज्वालामुखी फूट-फूट कर लावा उगलने लगे तो भी नई मनुष्यता उन्हें चिनगारियों की तरह कुचलती खड़ी रहे; मनुष्यता के विकास की संभवनाएँ असीम हैं, आज उसकी कीर्ति जल, स्थल और वायुमंडल की सीमा को भी पार कर जाए। अगर कभी समुद्रों के स्रोत फूट पड़ें और नाना द्वीप-महाद्वीप उसमें कछुओं की तरह डूबने-उतराने लगे तो भी वह दृढ़ मानव-मूर्ति खड़ी अभ्युदय का उपाय करती रहे — “किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति, अभ्युदय का कर रही उपाय।” निःश्रेयस और अभ्युदय, आध्यात्मिक और लौकिक संपदा की सिद्धि—दोनों का समान समन्वय, यही धर्म है। विवेकानंद कहते हैं, भारत में निःश्रेयस सिद्धि बहुत हो चुकी है, अब कुछ रजोगुण का उपाय करना चाहिए; भारत में सतोगुण पहले से ही बहुत है, अब कुछ रजोगुण की साधना करनी चाहिए। भारत भूखा क्यों मरे? उसे समृद्ध होना चाहिए।

विवेकानंद के इसी आह्वान के मेल में श्रद्धा मंगलमय वृद्धि पर, समृद्धि पर, अभ्युदय पर बल दे रही है। विवेकानंद भारत में बल का, शक्ति का संचार देखना चाहते हैं, श्रद्धा आगामी सभ्यता के लिए चाहती है — विश्व की दुर्बलता बल बने — विश्व में दुर्बलता के स्थान पर बल की स्थापना हो; सामने पराजय की परिस्थितियाँ हों तो भी ‘शक्ति का पीड़ामय संचार’ उन पर हँसने का हौसला दे। विवेकानंद ने कहा था, दुर्बलता मृत्यु है, बल ही जीवन है। बल ही अनंत सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है। (सा०, खंड 9, पृ० 177) वह देश के युवकों से बल की, दृढ़ता की मांग करते थे —

1. “मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हों। बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज।” (वि.सा., खंड 5, पृ० 86)

2. “हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायु वाले वीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न होने की, कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो”

3. “बलवान शरीर से और मजबूत पुष्टों से तुम गीता को और अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा सिर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, तब तुम अपने को मनुष्य समझोगे। तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भली-भाँति समझोगे।” (वि.सा., खंड 5, पृ० 172)

“हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है— लोहे के पुष्ट और फौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बलता लाने वाले वाहियात विचार।”

शेष भाग पृष्ठ 31 पर

## सत्याग्रह : विसर्जन की शक्ति

डॉ० उपासना पाण्डेय

हम सभी को विदित है कि गाँधीजी सामान्य से भी कम स्थिति से चले और अवतार की ऊँचाई पर पहुँच गये। आखिर उस विराटता के विकास की प्रक्रिया क्या थी? गाँधीजी देश के एकछत्र नेता बन गये, उस नेतृत्व के निर्माण का रहस्य क्या था? मामूली तौर पर एक छोटी सी लीडरशिप के लिए भी बहुत बड़ी जद्दोजेहद करनी पड़ती है। परन्तु गाँधीजी की स्वयं शून्य बनने की साधना रही, उन्होंने कुछ होना ही नहीं चाहा। अपने को विसर्जित करने में लगे रहे। फलतः, वे शून्य बनते-बनते विराट बन गये। गाँधीजी की ताकत ऐसी बनी कि उनका व्यक्तित्व भारत की अखिलता को ही नहीं, वरन् मानवता की समग्रता को मूर्तले करने वाला माना गया। इसके मूल में विसर्जन की शक्ति के अतिरिक्त भला और क्या है?

वस्तुतः गाँधीजी सत्य के साधक थे और इसीलिए वे जानते थे कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है, सत्य मात्र उतना ही नहीं है। इसीलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही, भद्र और सविनय रहता है। सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह जाता है। उससे अलग और उससे अधिक व्यक्ति का अधिकार होता ही नहीं है।

सत्याग्रह की इसी शक्ति को लेकर गाँधीजी भारतीय राष्ट्रीय संग्राम को एक नवीन ऊर्जा से तरंगित कर दिया। आज के हिंसक होते जा रहे समाज में इन अहिंसक सत्याग्रहों का पुनरावलोकन आवश्यक प्रतीत हो रहा है। गाँधीजी के नेतृत्व में किये गये प्रमुख सत्याग्रह काल-क्रमानुसार निम्नवत् हैं —

1. चम्पारन सत्याग्रह (1917)
2. खेड़ा सत्याग्रह (1918)
3. अहमदाबाद मिल मजदूर सत्याग्रह (फरवरी-मार्च 1918)
4. रौलेक्ट ऐक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह (1 मार्च - 18 अप्रैल 1919)
5. वायकोम मन्दिर सत्याग्रह (1924-1925)
6. बारदोली किसान सत्याग्रह (12 फरवरी- 4 अगस्त, 1928)
7. नमक सत्याग्रह (मार्च 1930-मार्च 1931)

उपरोक्त सभी सत्याग्रह के परिणामों से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु इन सत्याग्रहों के व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक पक्ष से हमारा सरोकार कम ही रहा है। जबकि इसी पहल में सत्याग्रह की सफलता का मूल-मंत्र छिपा हुआ है। वायकोम मन्दिर सत्याग्रह का प्रसंग यहाँ आपेक्षित है।

वायकोम भारत के दक्षिणी सिरे पर त्रावनकोर राज्य का एक गाँव है। इस गाँव के अछूतों का मन्दिर परिसर में ही नहीं वरन् मन्दिर के सम्पर्क मार्ग का प्रयोग भी निषिद्ध था। इस कारण अनावश्यक रूप से ही अछूतों को लम्बा रास्ता तय करना पड़ता था और इससे उनके समय एवं श्रम की अनायास ही खपत होती थी। इसी विरोध में अछूतों ने गाँधीजी के परामर्श से 1924 की वर्षा ऋतु से आन्दोलन प्रारम्भ किया। लगभग 16 महिनों तक अहिंसक सत्याग्रह चलता रहा।

यहाँ मैं बताना चाहूँगी कि गाँधीजी के नेतृत्व में जितने भी सत्याग्रह हुए उन सभी का तरीका अत्यन्त ही विशिष्ट, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक था। सत्याग्रह के सम्पूर्ण प्रारूप की रूपरेखा पूर्वनिर्धारित होती थी। यथा: सत्याग्रह में सत्याग्रहियों



की संख्या कितनी होनी चाहिए? सत्याग्रहियों को सत्याग्रह के दौरान किस-किस प्रकार के कार्य करने चाहिए? सत्याग्रह के दौरान उनकी दिनचर्या क्या होनी चाहिए? स्वास्थ्य, सफाई एवं बुनियादी शिक्षा का प्रचार-प्रसार कैसे किया जाना चाहिए? रचनात्मक कार्यक्रमों की महत्ता को किस प्रकार व्यवहारित करना चाहिए? प्रार्थना-सभा का समय क्या होगा? कौन-कौन सी प्रार्थना सत्याग्रह के दौरान गायी जाएगी? सत्याग्रहियों द्वारा कितना सूत प्रतिदिन काटा जायेगा? सत्याग्रह का मुख्यालय कहाँ बनाना चाहिए? इन सभी बिन्दुओं पर विमर्श पहले ही कर लिया जाता था।

इसी प्रकार सब कुछ व्यवस्थित हो जाने के उपरान्त निर्धारित समय पर वायकोम सत्याग्रह 50 सत्याग्रहियों के साथ प्रारम्भ किया गया। इनके सहयोगियों की संख्या 600 से 1000 तक थी। हिन्दू ब्राह्मण, सवर्ण, अछूत सभी ने अपने-अपने स्तर पर आन्दोलन कराने को सहयोग दिया। सिख बन्धुओं को सत्याग्रहियों को भोजन कराने का जिम्मा दिया गया।

गाँधीजी के नेतृत्व की व्यापकता को हमें यहाँ रुक कर समझना होगा। आज के तथाकथित 'गाँधीवादी विरोध' के विपरीत सत्याग्रह का उद्देश्य पूर्णतया ही भिन्न था। आज के चक्का जाम अथवा भूख हड़ताल के विपरीत गाँधीजी के सत्याग्रही जहाँ कही भी गये, अपने आस-पास के सम्पूर्ण परिदृश्य को ही सकारात्मक रूप से परिवर्तित कर आये या यूँ कहें सँवार आये। जिन स्थानों पर सत्याग्रही अपना आन्दोलन करते थे, उन स्थानों की सफाई, स्वास्थ्य व्यवस्था, बुनियादी शिक्षा इत्यादि का सम्पूर्ण ज्ञान स्थानीय लोगों में बाँटते थे। खादी का क्या लाभ है? प्रार्थना की धार्मिक, आध्यात्मिक व सामाजिक खूबी क्या है? चरखा चलाना कैसे शारीरिक व मानसिक सभी स्तरों पर फलदायी है,

ये सभी विमर्श सत्याग्रह के ही अंश होते थे।

सत्याग्रह के दौरान स्थानीय लोगों के लिए सत्याग्रही आदर्श (Role-Model) होते थे। इसीलिए सत्याग्रहियों का आत्म-संयमी, आत्म-नियंत्रित व चरित्रवान होना आवश्यक होता था। सत्याग्रहियों की दिनचर्या प्रभात-फेरी से शुरू होती थी। सूत काटना, सत्याग्रह में भाग लेना, सत्याग्रह स्थल की सफाई करना, स्वास्थ्य का प्रचार करना, प्रतिदिन स्थानीय बच्चों को शिक्षा देना, सायंकालीन प्रार्थना सभा आयोजित करना इत्यादि सत्याग्रहियों के आवश्यक कार्य थे। आज सत्याग्रह के इन पक्ष को उजागर करने की महती आवश्यकता है।

वायकोम में निषेधित मार्ग पर सत्याग्रहियों द्वारा तय किया गया कि एक मूक रैली निकाली जाए। स्वभावतः सत्याग्रहियों पर प्रहार किये गये। परन्तु प्रतिरोध करना जैसे सत्याग्रहियों ने सीखा ही नहीं था। वे घायल होते, बेहोश होते, उनकी जगह दूसरे सत्याग्रही आ जाते, परन्तु रैली का यह क्रम रुकता न था। लगातार महीनों तक एक निश्चित समय, प्रतिदिन में अनोखी मूक रैली निकाली जाती।

हालांकि शरुआती चरण में सत्याग्रहियों ने सवर्णों से व सरकारी अंग्रेज अधिकारियों से सम्पर्क साधना शुरू किया परन्तु जब उन्हें कोई सफलता नहीं मिली तो द्वितीय चरण में सत्याग्रहियों ने पुलिस बैरिकेड को तोड़ डाला। अब सत्याग्रहियों की पकड़ प्रतिदिन तेज होती जा रही थी। वर्षा ऋतु के समय में पुलिस नावों की सहायता से अपनी पोजिशन लेते और सत्याग्रहियों की मूल रैली उनके कंधों तक बरसते पानी में भी जारी रही।

सत्याग्रह के तृतीय चरण में गाँधीजी त्रावणकोर गये। अधिकारियों को समझाने का सतत प्रयास किया। अन्ततः अधिकारियों ने निषेधित मार्ग से बैरिकेड को हटा लिया। परन्तु

प्रशासन के निर्णय से अप्रभावित सत्याग्रही अभी भी उसी प्रकार सत्याग्रह करते रहे। ब्रिटिश प्रशासन परेशान, स्थानीय जनता हैरान। उनकी समझ से परे था सत्याग्रहियों के उद्देश्य को समझना।

तब सत्याग्रहियों ने स्पष्ट किया कि उनकी तो लड़ाई ब्रिटिश-प्रशासन से है ही नहीं। उनका एक मात्र उद्देश्य सवर्णों की मनःस्थिति को परिवर्तित करना है। अंग्रेज कानून व विधि से उनका कोई लेना-देना नहीं है, और सवर्णों के हृदय-परिवर्तन का यह पवित्र कार्य वर्षा-ऋतु में कंधों तक जल में भी चलता रहा। इस बीच कितने ही सत्याग्रहियों को जेल भेजा गया, पुलिस की प्रताड़ना सहनी पड़ी। पुलिस ने पुनः विवादित मार्ग पर गतिरोधक खड़ा कर दिया। सत्याग्रहियों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया परन्तु गाँधीजी के सत्याग्रहियों ने न तो अपनी हार मानी और न ही वे पीछे हटे। अन्ततः ब्राह्मणों को मानना ही पड़ा।

1925 के फाल्गुन मास में ब्राह्मणों ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें कहा गया कि "प्रार्थनाओं के माध्यम से जो लगातार याचिका हमसे की जा रही है, हम उसको अब और उपेक्षित नहीं कर सकते, हम हरिजनों का गाँव के भीतर मार्गों में स्वागत करते हैं।"

इस प्रकार सत्याग्रहियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इसका सकारात्मक असर सम्पूर्ण भारत पर पड़ा। जहाँ-जहाँ सवर्णों द्वारा इसी प्रकार मार्ग प्रयोग पर निषेध लगाया गया था, उसमें परिवर्तन लाने का विमर्श शुरू हो गया। साथ ही सत्याग्रह के दौरान किये गये विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों ने भी स्थानीय लोगों पर अमिट छाप छोड़ी। उनकी जागरुकता में अभिवृद्धि हुई।

यह प्रसंग गाँधीजी के सत्याग्रह का अद्वितीय, अदभुत व अहिंसक पक्ष प्रस्तुत करता है। प्रतिपक्ष का हृदय-परिवर्तन मात्र 'आग्रह' तक ही सीमित नहीं है, उसके साथ कुछ सकारात्मक व रचनात्मक

कार्य भी आपेक्षित हैं। गाँधीजी के अनुयायियों ने 'आग्रह' को तो अपनाया परन्तु 'रचनात्मक कार्य' के महत्त्व को नहीं समझा। इसीलिए आज गाँधीवादियों में एक झुंझलाट स्पष्ट रूप से दिख पड़ती है। उन्हें नाभिकीय-युग में सत्य एवं अहिंसा के प्रश्न अप्रासंगिक लगते हैं। लेकिन हमें समझना होगा कि सत्याग्रह का तात्पर्य मात्र अहिंसक कार्यवाही ही नहीं है। जबतक सत्याग्रह के कार्यक्रमों में रचनात्मक-कार्य नहीं जुड़ेंगे तब तक सत्याग्रह की प्रासंगिकता सिद्ध नहीं हो सकती। ♦

---

पृष्ठ 28 का शेष भाग

श्रद्धा ने अपने जीवन-संदेश का उपसंहार इसी बल या शक्ति के संचय से किया है — शक्ति विद्युत्-शक्ति के समान है, उसके विद्युत कण इधर-उधर बिखरे हैं इसीलिए निरुपाय हैं, उन्हें सजोकर इकट्ठा करो, उसका समन्वय करो, इसी से मानवता विजयिनी होगी —

**शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।**

**समन्वय उनका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।।**

मनु ने अपने हताशा — भरे विचारों को 'दीन जीवन का संगीत' कहा था, हम श्रद्धा के इस संदेश को — 'दिव्य जीवन का संगीत' या 'उदात्त जीवन का संगीत' कह सकते हैं। मनु के अवसाद के विरुद्ध यह अपराजेय जीवन को स्वीकार करने वाले आनंदवाद का विजय-घोष है। यह जीवनगीता श्रद्धा ने प्रलय के अंत और विध्वंस की पृष्ठभूमि में मन-मारे मनु को सुनाई थी। इसे प्रसाद गीता भी कह सकते हैं।

छायावाद अगर शक्ति का काव्य है तो प्रसाद और निराला उसके सर्वश्रेष्ठ शक्तिधर कवि हैं। प्रसाद ने श्रद्धा का जीवन संगीत सुनाया तो निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' रची। ♦

## मानवीय मूल्य एवं मूल्य संकट: स्वामी विवेकानंद का चिन्तन

सुश्री संध्या त्रिपाठी

किसी भी राष्ट्र के उत्थान के लिए मूल्य व्यवस्था को बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है। वर्तमान में मानव बाहरी दुनिया के उत्तेजनाओं में इतना संलग्न है या आत्मपरक भावनाओं में इतना डूबा हुआ है कि वह गहन चिन्तन या प्रभाव की क्षमता ही खो बैठा है। उसमें मानवीय मूल्यों का अभाव हो गया है। आधुनिक मानव को अपने अंदर झांकना सिखाने की आवश्यकता है जिससे वह अपने अन्दर की बुराईयों को बाहर कर सके और अपनी आत्मा से परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर सके। अतः मानव के नव निर्माण के लिए एक नया मस्तिष्क, नई चेतना, नया भाव बोध और नई प्रज्ञा की आवश्यकता है, जिससे मनुष्यों में मानवीय मूल्यों का विकास हो सके। मनुष्य अपनी स्थिति से परिचित है। उसे अन्दर से जगाने की जरूरत है। इस क्षमता को जगाने के लिए धर्म, संस्कृति एवं शिक्षा आदि की सहायता लेने की आवश्यकता है जिससे समाज में मानवीय, नैतिक, सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः स्थापित किया जा सके।

प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण धरातल पर मूल्यों पर चिन्तन किया जाता रहा है। प्रोफेसर अर्बन ने अपनी पुस्तक "फण्डामेंटल ऑफ एथिक्स" में लिखा है कि "मूल्य वह है जो मानव के संरक्षण में सहायक हो"। अन्त में वे कहते हैं कि "केवल वही परम रूप से और साध्य रूप से मूल्यवान है जो आत्माओं के विकास या आत्म साक्षात्कार की ओर ले जाये।" इस परिभाषा में मानव की जैविक से लेकर आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं का समावेश हो जाता है, जिनका मानव जीवन के लिए विशेष महत्त्व होता है, जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति और चेष्टा करते हैं जिसके लिए वे

जीवित रहते हैं तथा बड़ा से बड़ा त्याग करते हैं।

भारतीय सन्दर्भ में विभिन्न चिन्तकों में स्वामी विवेकानन्द जी ने मानवीय मूल्यों की गूढ़ता एवं सूक्ष्मता को जिस प्रकार परखा एवं विवेचित किया है उसी को वर्तमान सन्दर्भ में पुनर्परिभाषित एवं पुनर्विवेचित करने की आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ने उच्च मूल्यों के प्रति जितनी निष्ठा दिखाई उतनी किसी अन्य महापुरुष ने नहीं दिखाई। उनका मूल मंत्र था "मानव की सेवा में ईश्वर का साक्षात्कार"। उन्होंने अपने एक अविस्मरणीय भाषण में उद्घोष किया कि "सम्पूर्ण विश्व पर हमारी मातृभूमि का महान ऋण है। इसी व्यावहारिक वेदान्त की परम पावन करुण भूमि से आध्यात्म एवं दर्शन की लहर बार-बार उमड़ी और आह्लादित हुई ओर यही से मानव जाति में क्षमा, दया, धृति, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों जैसे मानवीय मूल्यों का विकास हुआ।" उनका विश्वास है कि भारत देश ऐसा देश है जिसने सारी मानवता को "जियो और जीने दो" का पाठ पढ़ाया है। सामरिक दृष्टि से शक्तिशाली होने के बावजूद इसने कभी भी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया, क्योंकि इसकी दृष्टि समग्र रही है और इसने मानवता को एकत्व का बोध कराया है — आप और हम एक हैं, सारा विश्व एक ही मानव परिवार है — "वसुधैव कुटुम्बकम्"। फिर किसकी जीत और किसकी हार? किससे द्वेष और किससे घृणा? यदि सुख शान्ति चाहते हो तो स्वयं पर विजय प्राप्त करो। महिमा मण्डित प्राचीन भारत का यह अमर संदेश स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण विश्व को सुनाया। उनका विश्वास था कि भारत की महान नियति मानवता को उस मुकाम पर



ले जाने की है जहाँ वेद कुरान और बाइबिल सहस्वर और सुसंगत हो जाय। विवेकानन्द जी स्वयं कहते हैं कि **“उस स्थान पर मनुष्य स्वयं जानेगा कि सब धर्म एक हैं और सब धर्मों की विविध और परिवर्तन अभिव्यक्तियाँ अभिन्नता और अनन्यता की बात करती हैं। उस अनन्यता की मंजिल के अलग थलग मार्ग हैं और सबको अपना मार्ग चुनने की स्वतंत्रता है।”**

स्वामी विवेकानन्द का मत है कि इस देश में ही सर्वप्रथम अमरत्व सर्वव्यापक और सर्वकल्याणकारी भगवान और प्रकृति से उसकी सन्निकटता और मानव – मन में उसकी उपस्थिति धर्म के उच्चतम आदर्शों व दर्शन के सिद्धान्तों और मतों का जन्म हुआ तथा वे अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचे। वस्तुतः मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी हैं, जिसके कारण समाज का अस्तित्व है क्योंकि उपयोगिता या कल्याणकारिता की भावना ही समाज को स्थिर रखती है। मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्गुण है, जिससे व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन पद्धति का निर्माण करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसमें मनुष्य की धारणाएँ, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था आदि समाहित हैं। ये मानवीय मूल्य एक ओर व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा नियन्त्रित होते हैं तो दूसरी ओर उसकी संस्कृति एवं परम्परा द्वारा क्रमशः निसृत और परिपोषित होते हैं।

वर्तमान परिदृश्य का अवलोकन करने पर यही तथ्य सामने आता है कि मानव जाति का स्वर्णिम युग समाप्त होता जा रहा है। हम अन्धकार की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में तनाव के कारण दिन – प्रतिदिन घुटन बढ़ती जा रही है। परिवार में मानवीय मूल्यों का अभाव हो गया है। भाई-भाई में

प्रेम समाप्त होता जा रहा है। सामाजिक जीवन में भी प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता, सहयोग समाप्त होता जा रहा है एवं सामाजिक नियम एवं व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हुए हम संकोच नहीं करते। दिन-प्रतिदिन गरीबों, असहायों, नारियों का शोषण एवं अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं। व्यक्ति स्वार्थी, अवसरवादी, भोगी, चाटुकार एवं कर्तव्य विमुख होता जा रहा है। आज के परिवेश में मूल्यों का इतना अवमूल्यन हो गया है कि जीवन जीने का अर्थ ही बदल गया है। आज स्थिति यह है कि व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति के लिए समाज में दूसरे व्यक्तियों को हानि एवं दुख पहुँचाने में कोई संकोच नहीं कर रहा है। ये सभी बातें मानवीय मूल्यों का ह्रास नहीं तो और क्या है? यदि हम इन सभी मूल्यों के ह्रास के कारणों पर विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि इसके ह्रास के लिए काफी हद तक हमारा पर्यावरण, हमारा समाज व हमारी शिक्षा व्यवस्था भी जिम्मेदार हैं, क्योंकि जब बालक का जन्म होता है तो उसका हृदय पवित्र होता है। उसमें मानवीय मूल्य विद्यमान होते हैं। लेकिन धीरे – धीरे जब वह बड़ा होता जाता है तो झूठ, स्वार्थी, लोभ, हिंसा, घृणा उसमें पनपने लगते हैं वह इनके वशीभूत होता जाता है। अतः हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे शिक्षा व्यवस्था, समाज एवं हमारे परिवेश में परिवर्तन लाया जा सकें और बालक सत्य के आधार पर हिंसा द्वारा प्रेमपूर्वक जीवन यापन करना सीखें। हमें ऐसा मनुष्य बनाना है जो स्वयं स्वेच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन का प्रयास करे जिससे व्यक्ति समाज सभी का कल्याण सम्भव हो। हमें स्वामी विवेकानन्द जैसी आध्यात्मिक और बौद्धिक विभूति के विचारों का मंथन करना चाहिए। एक विशाल प्रकाश स्तम्भ की तरह वे ही समुन्द्री तूफान में डगमग करती भारत की नैया को पार लगा सकते हैं। शोषणकारी, पूँजीवादी और

उपभोक्तावाद के गुरुओं द्वारा देश की सोच को बंधक बना लिए जाने के बाद विवेकानन्द जी की दृष्टि और उत्साह ही देश को आध्यात्मिक पतनोन्मुख होने से बचा सकती है। विवेकानन्द जी उन प्रमुख शिल्पियों में से एक थे जिन्होंने नई सांस्कृतिक धारा से बंजर भारत भूमि को सिंचित किया। इस उर्वर भूमि पर मनुष्यता की नई फसल लहलहाई। उन्होंने मानव की जातीय, राष्ट्रीय या साम्प्रदायिक आदि संकीर्ण पहलुओं के स्थान पर उसके सार्वभौमिक पक्ष को उजागर किया। इस सार्वभौमिक पक्ष ने उन्हें सम्पूर्ण मानव जाति के जीवन के सभी क्षेत्रों में, एक तीव्र लगाव के रूप में अभिव्यक्त किया। उनके मानवता के पीछे यही निहितार्थ था — **“मानवात्मा के भीतर उनकी गहरी पैठ और मानवता की सच्ची महिमा व गरिमा के बारे में उनकी यह अनुभूति कि मनुष्य के इस क्षुद्र अहं के पीछे जो अनन्त और नित्य शुद्ध बुद्ध युक्त आत्मा है उसे मनुष्य के जीवन तथा कर्मों के माध्यम से विकसित या अभिव्यक्त करना चाहिए।”** उन्होंने आधुनिक सभ्यता के भोगकेन्द्रित प्रवृत्ति को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने की जरूरत पर बल दिया था। उनका कहना था कि यदि मानव सिर्फ शारीरिक और मानसिक उन्नति में ही लगा रहता है लेकिन उसके साथ आध्यात्मिक प्रगति नहीं करता, तो वस्तुतः वह अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों के शोषण में करेगा; स्वयं को हिंसा व युद्ध के माध्यम से अभिव्यक्त करेगा जिसके फलस्वरूप वह न केवल दूसरों को हानि पहुँचायेगा तथा नष्ट करेगा वरन् स्वयं भी नष्ट होता जायेगा। परन्तु जब वह आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होता है तथा अपने भीतर चिर-विद्यमान दिव्य पक्ष को अभिव्यक्त करता है, तब वह अपने आप को प्रेम व दया के माध्यम से व्यक्त करने में सक्षम हो जाता है और मानव के साथ ही पशु-पक्षियों के प्रति भी मानवीय भावनाएं

भी प्रदर्शित कर पाता है। उन्होंने यही संदेश दिया कि प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है इसलिए हमें जात-पात का भेद भाव छोड़कर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को यह सन्देश सुनाया जाय और सिखाया जाय की ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और छोटे-बड़े सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है जो सर्वव्यापी है अतः सभी लोग महान हो सकते हैं। इसके लिए हमें सच्चे स्वरूप की शिक्षा की आवश्यकता है जो मोह निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस निद्रा से जगा दे। वर्तमान समाज में हमें मूल्यपरक शिक्षा पर बल देना चाहिए। शिक्षा ही वह साधन है जिससे सभी प्रकार के मूल्यों का विकास किया जा सकता है मूल्यों के हास को रोका जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द का मत है कि ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है कि जिसके द्वारा चरित्र गठन हो, मन की शक्तियों में वृद्धि हो, बुद्धि बल का विकास हो, और मनुष्य का निर्माण हो, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, आत्मविश्वास, त्याग एवं सेवा जैसे गुणों का विकास हो। आज हमारी शैक्षिक व्यवस्था में उनके द्वारा बताये गये रास्ते शिक्षा का समावेश होना चाहिए, ताकि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके।

वास्तव में वर्तमान में देश अनेक समस्याओं के भँवर में फँसा हुआ है चारो तरफ कुरीतियों का अन्धकार फैला हुआ है। लेकिन बुराइयों का रोना रोने से ही काम नहीं चलने वाला है। हमें अच्छाइयों की ओर जाना ही होगा। विवेकानन्द जी ने एक प्रेरक मंत्र दिया था कि “कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अंधकार फैला हुआ है, तो क्या भयंकर अंधकार! अंधकार!—कहकर चिल्लाने से अंधकार दूर हो जायेगा? नहीं, रोशनी जला दो, फिर देखो कि अंधेरा आप दूर हो जाता है कि नहीं? मनुष्य के सुधार का उसके संस्कार का यही रहस्य है।” उसके

## चिकित्सा कर्म एवं उसके मूल्य

श्री रविगुप्त मौर्य

मूल्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसकी परिधि में मानव जीवन से सम्बन्धित वे सभी क्रिया-कलाप आते हैं जिनसे मानव जीवन का कल्याण सम्भव है। मानव कल्याण से सम्बन्धित सभी कार्यों के अपने-अपने मूल्य हैं। वे मूल्य ही इन कार्यों को मानव जीवन और उसके समाज के लिए उपादेय बनाते हैं। चिकित्सा कर्म भी इन्हीं में से एक है। चिकित्सा कर्म के मूल्य सीधे चिकित्सक से जुड़ते हैं। इसलिए चिकित्सक के कुशल-अकुशल कर्मों का प्रभाव चिकित्सा कर्म पर सीधे पड़ता है।

वर्तमान समाज में चिकित्सा कर्म व चिकित्सा से सम्बन्धित मूल्य के अर्थ व परिभाषा में बहुत परिवर्तन आ गया है। आज इन मूल्यों पर छद्म मूल्यों का आवरण चढ़ गया है। यही कारण है कि सेवा-भाव जैसे आदर्श मूल्यों के स्थान को धन लोलुपता ने अधिग्रहित कर लिया है। रोगी की चिकित्सकीय सेवा का मूल्यांकन धन से किया जा रहा है। आज समाज में बुद्धिजीवी वर्ग समानता और समरसता के सिद्धान्तों पर बल दे रहे हैं वही चिकित्सकीय क्षेत्र में सर्वत्र असमानता ही दिखाई दे रही है। एक ही रोग से ग्रसित रोगियों की चिकित्सा उसकी आर्थिक स्थिति के कारण भिन्न-भिन्न स्तरों एवं मानदण्डों से की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी को सामान्य कक्ष में रखा जाता है तो उसी रोग के लिए प्रभावशाली (आर्थिक दृष्टि से) रोगी को विशेष कक्ष में रखा जाता है। जबकि रोग की पीड़ा व व्याकुलता दोनों के लिए समान है। मानव संवेदना की इतनी बड़ी अनदेखी अन्यत्र और कही नहीं है।

वर्तमान समाज ने जिन के हाथों में सरकारी तन्त्र की व्यवस्था सौंपी गई है वे केवल घोषणा एवं

आश्वासन ही दे रहे हैं और उसके क्रियान्वयन से सम्बन्धित तन्त्र केवल कागजों पर अपने दायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण हैं—सरकारी चिकित्सालय। ऐसे चिकित्सालयों के दीवारें योजनाओं और सुविधाओं से रंगीन हैं, लेकिन असलियत में अन्दर से सब कुछ बदरंग है। प्राथमिक चिकित्सालयों की स्थिति तो और भी बदतर है। वहाँ कम्पाउण्डर ही डॉक्टर हैं। वार्ड की बेड पर मरीज की जगह कुत्ते सोते हुए नजर आते हैं। कभी यदि कोई सरकारी आयोजन हो या जाँच हो तो ही वहाँ कुछ व्यवस्था दिखाई देती है। इसके बाद वहाँ के चिकित्सक अन्यत्र कहीं वेतन के अतिरिक्त धन उगाही में लग जाते हैं। सरकारी चिकित्सालयों में यन्त्र हैं तो उसे चलाने वाला नहीं है, दवा है तो उसे रखने की व्यवस्था नहीं है, विभाग है पर चिकित्सक नहीं। जो दवा मरीजों को निःशुल्क वितरण के लिए आती है। उन्हें दुकानों पर आसानी से बिकते हुए देखा जा सकता है। इन सभी क्रिया-कलापों की जानकारी हमारे मुख्य चिकित्सकाधिकारी को निश्चित रूप से है। परन्तु मानवीय संवेदना एवं मूल्यों के ह्रास ने उन्हें मूक बना दिया है।

निजी चिकित्सालय के भी दो स्वरूप दिखायी देते हैं यदि वे व्यवस्था देते हैं तो आम आदमी को उस व्यवस्था के लिए इतना अधिक मूल्य देना पड़ता है कि उसकी आर्थिक स्थिति ही अव्यवस्थित हो जाती है; वहीं दूसरी ओर व्यवस्था के नाम पर मरीजों को आर्थिक, शारीरिक व मानसिक रूप से ठगा जाता है। इन दोनों प्रसंगों में अमानवीय व्यवहारों के पीछे सबसे अधिक भूमिका चिकित्सकों की है इसके बाद हमारे तन्त्र की है। इन सबका एक मूल कारण है चिकित्सा क्षेत्र में मानवीय मूल्यों



की अनदेखी।

चिकित्सों के मूल्यों के ह्रास से सम्बन्धित मेरे कुछ व्यक्तिगत अनुभव यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं -

1992 में जब मैं कक्षा आठ का विद्यार्थी था उस समय मैं रैबीज के इंजेक्शन के लिए जिले के प्रसिद्ध सरकारी चिकित्सालय में गया। इंजेक्शन के लिए जब मैं बेड पर लेटा था तभी इंजेक्शन लगाने वाले ने कहा कि क्या तुम्हारे पास दो रुपये हैं? मैंने कहा नहीं और पूछा दो रुपये किसलिए? उसने कहा यह शुल्क है। फिर मैंने कहा इसके तो यहाँ पैसे नहीं लगते। उसने कहा कल लेकर आना नहीं तो कल समझ में आ जायेगा और उसने इंजेक्शन लगा दिया। मुझे चुटकी काटने जैसा एहसास हुआ, जबकि मैं बहुत डर रहा था। दूसरे दिन मैं पुनः पहुँचा उसने पूछा - पैसे लाये हो? मैंने कहा नहीं; उसने कहा आज तुम्हें समझ में आ जायेगा। उसने ऐसा इंजेक्शन लगाया जिसका दर्द मुझे नाभि के चारों ओर रात भर हुआ और सूजन भी हो गयी.....।

सन् 2000 में अपने एक परिचित को लेकर एक अन्य सरकारी चिकित्सालय में टी0बी0 की चिकित्सा के लिए ले गया। चिकित्सक ने परीक्षण करने के बाद मरीज को जाँच के लिए नगर के प्रसिद्ध निदान केन्द्र में भेजा जहाँ पहुँचने पर पता चला कि यह जाँच बहुत महँगा है और इसकी जरूरत नहीं, जो जाँच सरकारी चिकित्सालय में किया गया वही पर्याप्त है। जब हम पुनः सरकारी चिकित्सालय पहुँचकर चिकित्सक से निवेदन किये तो उन्होंने कहा कि यह जरूरी है। विवश होकर हमें वहीं पर जाँच कराना पड़ा। इसके बाद हम पुनः सरकारी चिकित्सालय पहुँचकर फार्मासिस्ट विभाग में औषधि के लिए पहुँचे तो उसने भी एक महीने की दवा के लिए सौ रुपये माँगे। मरीज के पास केवल

20 रुपये बचे थे और मेरे पास 30 रुपये थे, जिसे जोड़कर कुल पचास रुपये हुए उस पचास रुपये और उस मरीज के करुण निवेदन के बावजूद उसने केवल पन्द्रह दिन की दवा दी। इस समस्या पर उस चिकित्सालय का प्रशासन भी मौन ही रहा। हमें समझ में आ गया कि इसमें सारा खेल कमीशन का है जिसमें नीचे से ऊपर तक के सारे कर्मचारी लिप्त हैं..... आगे फिर वह गरीब मरीज व्यक्ति पैसे की व्यवस्था कर किसी तरह सौ रुपये के बदले एक महीने की दवा लिया, लेकिन बाद में उसके साथ बुरा यह हुआ कि डॉक्टर ने अतिरिक्त अनावश्यक दो सीरप लिख दिया और कहा कि जब तक इसे खरीद कर मुझे नहीं दिखाओगे तब मैं दुबारा तुम्हें दवा नहीं लिखूँगा..... इस कृत्य से मरीज का धैर्य अन्त में टूट गया और उसने दवा छोड़ दी तथा 2002 में उसकी मृत्यु हो गयी। यह निश्चित था कि उसकी मृत्यु टी0बी0 से ही हुयी।

एक अन्य प्रसंग इससे भी अधिक दुःखदायी है। मैं एक मरीज से मिलने एक निजी चिकित्सालय में गया था। तभी वहाँ एक जली हुई महिला आयी। वह लगभग साठ प्रतिशत जल चुकी थी। डॉक्टर ने उसे एक स्वतंत्र कक्ष में एडमिट किया। डॉक्टर के अनुसार उसे वातानुकूलित कक्ष की आवश्यकता थी। परन्तु तत्काल धनाभाव के कारण मरीज के सगे-सम्बन्धी असहाय थे। उन्होंने अपनी समस्या डॉक्टर से बतायी। डॉक्टर ने एक व्यक्ति की तरफ इशारा करते हुए कहा कि मुझे एक जरूरी आपरेशन करना है तुम उनसे बात कर लो। जब उससे बात की गयी तो एक लम्बे वाक् युद्ध के बाद उसने कहा कि डॉक्टर को कोई आपरेशन नहीं करना था। चूँकि आपके पास पैसे नहीं हैं इसलिए वे चले गये। बिना अग्रिम धनराशि के वह कमरा उपलब्ध नहीं होगा। इस सन्दर्भ में मैंने भी उक्त व्यक्ति और डॉक्टर से यह बात कही कि आपके कक्ष में और

अन्य कक्ष में अनावश्यक ए0सी0 चल रहा है; लेकिन आप एक मरीज के जीवन के लिए ए0सी0 की सुविधा नहीं दे सकते हैं; ये कहाँ तक उचित है। इस पर डॉक्टर ने कहा मैं यहाँ पर धन्धा करने बैठा हूँ धर्म खाता नहीं खोल रखा है, ऐसा मैं करने लगूँ तो मैं भिखारी हो जाऊँगा। .....दूसरे दिन उस मरीज की मृत्यु हो जाती है।

मात्र ये तीन प्रसंग समाज के इस काले पक्ष को दिखाने के लिए पर्याप्त हैं। समाज में ऐसी हजारों-लाखों घटनायें प्रतिदिन होती हैं, जिसे हर आम आदमी झेलता है; दुःखी होता है; फिर जीवन के संघर्ष के लिए तैयार हो जाता है। यह सत्य है कि चिकित्सालयों व चिकित्सकों की अपनी सीमायें हैं। व्यवस्था के लिए आर्थिक मजबूती की आवश्यकता है। परन्तु जो दृश्य मैंने देखे, जो मैंने अनुभव किये उसके आधार पर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि इस तरह से कुछ प्रसंगों में मदद करके कोई भी चिकित्सक या चिकित्सालय भिखारी नहीं हो सकता है बल्कि उसकी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा में श्रीवृद्धि ही होगी। मरीजों के प्रति जो करुणा व दया का भाव चिकित्सकों में होना चाहिए सम्भवतः वह उनके हृदय से विलुप्त हो रहा है। प्रतिदिन रक्त और मांस का दर्शन उन्हें इतना कठोर बना चुका है कि वे अपने सेवा-भाव से युक्त पेशे को 'धन्धा' कहते हैं।

उक्त दृष्टान्तों एवं समाज में घटित अन्याय ऐसे उदाहरण इस तथ्य की ओर इशारा कर रहे हैं कि आज चिकित्सकों को पुनः उन मूल्यों को अंगीकार करने की आवश्यकता है जो उन्हें समाज में दैव पद प्रदान करते हैं। अन्यथा मूल्यों के बिना चिकित्सा कर्म एक यान्त्रिक कर्म बनकर रह जायेगा। इस तरह के मूल्यों का अनुपालन किसी प्रकार के शिकायती पत्र एवं बल प्रयोग से संभव नहीं है। चिकित्सकों एवं अधिकारियों को स्वयं मानवीय संवेदनाओं को समझते हुए इन मूल्यों के प्रति श्रद्धा

एवं विश्वास रखना पड़ेगा तभी अपेक्षित फल प्राप्त होंगे।

आज यह आवश्यक हो गया है कि मूल्य से सम्बन्धित सभी संस्थाओं को कम से कम अपने क्षेत्र के चिकित्सकों के लिए गम्भीर व व्यावहारिक (Practical) कार्यशालाओं का श्रृंखलाबद्ध आयोजन करना चाहिए। साथ ही चिकित्साविज्ञान से सम्बन्धित सभी पाठ्यक्रमों में मूल्यों से जुड़े हुए गम्भीर पाठ्यक्रमों को उसके व्यावहारिक पक्ष के साथ रखना वर्तमान परिवेश में प्रासंगिक ही नहीं आवश्यक भी है। ♦

---

पृष्ठ 34 का शेष भग

समक्ष उच्चतर बातें, उच्चतर प्रेरणायें रखना होगा, पहले मनुष्य में फिर उसकी मनुष्यता में विश्वास रखना होगा। लोगों से यह कहने की जरूरत नहीं कि जो वे कर रहे हैं वह ठीक नहीं खराब है। केवल जो कुछ अच्छा है उसे उनके सामने रख देना चाहिए, फिर हम देखेंगे कि वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने में मानवता के विकास के लिए मानवीय मूल्यों के संरक्षण के लिए स्वामी विवेकानन्द जी के चिन्तन को ग्रहण करना चाहिए, जिससे देश में फिर से ऐसी लहर उठे जो मानवता के हासोन्मुखी ढाँचे को एक नई सुदृढ़ता ओर ओजपूर्ण शक्ति प्रदान कर सके। उनके द्वारा हमें यही शिक्षा दी गई है हमें अपने लिए नहीं बल्कि हमेशा दूसरों के लिए जीवित रहना चाहिए। इसकी अभिव्यक्ति उनके इस विचारों से मिलती है —

**‘मुझे मुक्त हो ऊँचे आकाश में प्रतिष्ठित होने की परवाह नहीं है, मैं हजारों-हजार नरक भोग सकता हूँ पर दूसरों की भलाई का काम अनवरत एक गिरते झरने की तरह करता रहूँगा, यही मेरा धर्म है।’** ♦



## वर्तमान शिक्षा प्रणाली : अपेक्षित परिवर्तन की दिशा

डॉ० धर्मपाल मैनी

राष्ट्र की अस्मिता का आधार वहाँ के सांस्कृतिक महापुरुष होते हैं। इन महापुरुषों का विकास अपने राष्ट्र के जीवन-दर्शन, मानव-मूल्य, सामाजिक व्यवस्था तथा वैयक्तिक आचरण के आधार पर होता है— जिसका माध्यम हैं वहाँ की शिक्षा-प्रणाली। इससे स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र की गरिमा और महिमा का आधार-भूमि वहाँ की शिक्षा-प्रणाली है।

भारत का दुर्भाग्य है कि परतंत्रता के लगभग एक हजार वर्षों में से अन्तिम डेढ़-दो सौ वर्षों में यहाँ आधुनिक शिक्षा का जो सूत्रपात हुआ, वह न केवल भारतीय जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक चारित्रिक गरिमा से हीन था, अपितु यहाँ का मानव शरीर से भारतीय होकर भी मन से परतंत्र, बुद्धि से विवेकहीन तथा हृदय से दुर्बल और आत्मा से अपरिचित होकर ही -पश्चिम की चकाचौंध से अभिभूत होकर — वहाँ के शिष्ट समाज का अंग बनता गया। इंग्लैण्ड में पढ़कर भी, वहाँ से उच्चतम पद और शिक्षा पाकर भी, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी जैसे अपवादों ने ही भारत को अपनी अस्मिता की याद दिलवाई। सम्भवतः इसी का सुपरिणाम हुआ स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना और पं. मदन मोहन मालवीय द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के माध्यम से भारतीयता की दिशा में शिक्षा का प्रयाण। लेकिन इस देश का दुर्भाग्य कि राजनैतिक स्वतंत्रता -प्राप्ति के बाद भी यहाँ के शासकों ने अपने महापुरुषों के चिन्तन का अनुसरण न करके पश्चिम की लक्ष्य, दशा और दिशाविहीन शिक्षा-प्रणाली को अपनाए रखा, जो न जीवन-दर्शन देती थी, न मूल्य, न चरित्र, न राष्ट्रीयता, न स्वस्थ देह और न ही विवकेशील बुद्धि, देती रही तो केवल कुछ व्यक्तियों

को उचित-अनुचित साधनों से अपनी आजीविका अर्जित करने की क्षमता और नितांत अर्थ-परायण एवं भौतिकता-परायण दृष्टि। मात्र यही वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की देन कही जा सकती हैं।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के अपेक्षित लक्ष्य होने चाहिए—

1. भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में अपने जीवन-लक्ष्य का बोध,
2. आत्म-बोध और सर्वांगीण व्यक्तित्व को विकसित करने के साधनों का ज्ञान,
3. राष्ट्र की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का परिचय,
4. उचित साधनों से आजीविका अर्जित करने की क्षमता उत्पन्न करना।

इन चार लक्ष्यों की दिशा में ही समग्र शिक्षा-प्रणाली का विकास होना चाहिए। प्रत्येक स्तर की शिक्षा के सामान्य उद्देश्य इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर बनाने चाहिए। प्राथमिक स्तर पर बालकों की आयु, ग्राहिका शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार इनके सामान्य रूप का बोध करवाया जाये, तदनन्तर स्तर विकास के साथ-साथ उद्देश्य भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते चलें और अन्ततः इन लक्ष्यों को प्राप्त करने में बहुतायत से सफल हो सकें, तो राष्ट्र सच्चे अर्थों में शिक्षित व उन्नत हो सकेगा।

भारतीय संस्कृति की परिचायिका-शिक्षा जहाँ एक ओर अपने राष्ट्र के भौगोलिक गौरव-स्थलों का परिचय देकर उनसे आत्मीयता उत्पन्न करेगी, वहाँ उनके प्रति श्रद्धा या निष्ठा भी विकसित करेगी। गंगा आदि नदियाँ, हिमालय आदि पर्वत इस श्रेणी में आते हैं। माँ-बाप के साथ गुरुजनों के प्रति नमन और उनका आदर बच्चों की इस भावना को विकसित करेगा तथा शिष्ट-व्यवहार की चेतना भी देगा। स्वच्छता, व्यवस्था, अनुशासन, आज्ञापालन

निदेशक, भारतीय संस्कृति संस्थान, चण्डीगढ़



आदि उनकी चेतना को उद्बुद्ध कर भारतीयता के प्रति जागृत करते चलेंगे। यह सांस्कृतिक चेतना के जागरण का आरम्भ हो सकता है, जिसे मानव-मूल्यों की शिक्षा भी कहा जाता है। उच्च स्तर पर न केवल अपने स्वास्थ्य के प्रति सतर्क होते हुए व्यायाम एवं योग का आश्रय लेना, मन की चंचलता को नियमित करने के प्रयत्न में मौन और प्रार्थना का सहारा लेकर एकाग्रता बढ़ाते हुए उस अव्यक्त-शक्ति की महत्ता और अपनी लघुता का बोध प्राप्त करते हुए अपने अहंकार को विचलित करने का प्रयत्न, बुद्धि के धरातल पर स्मरण, ग्राहिका-शक्ति के साथ-साथ सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक शक्ति विवेक को जागृत व विकसित करना तथा हृदय को निष्कलुष बनाए रखने का प्रयत्न जहाँ बालक के भारतीय व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक होगा, वहाँ उसके अन्तर्मन को भी आत्म-विश्वास और गौरव से आपूरित करेगा। इस प्रकार सभी क्षेत्रों में अपने उत्तरदायित्व को जान कर वह उसका निर्वाह करेगा। इस आधार पर विकसित बालक उच्चतर स्तर पर अपने जीवन-लक्ष्य के प्रति जागरूक हो सकता है। एक ओर उसे आजीविका अर्जित करने के लिए किसी क्षेत्र-विशेष में शिक्षा प्राप्त होगी तो दूसरी ओर उचित जीवन-यापन करने की चेतना भी जगानी होगी। बालक के लिए उपयुक्त क्षेत्र का चुनाव उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, अभिवृत्ति, अभिरुचि, रुचि, योग्यता, क्षमता, सामर्थ्य तथा उसकी सीमाओं के आधार पर करना होगा। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में स्वीकृत आधार की तरह नहीं, रट-रटाकर पढ़ाई के विषयों में अधिक अंक प्राप्त कर लिये तो वह डाक्टरी या इंजीनियरिंग के कालेज में प्रवेश पा लेता है। यद्यपि अच्छा डाक्टर बनने की न उसकी प्रकृति है और न ही उसमें वैसे वैयक्तिक गुण हैं और न ही उन मानव-मूल्यों से उसका कोई परिचय ही है, (अनुस्यूत करने की बात तो दूर की बात

रही), जो उसे अच्छा डाक्टर बनाने में सहायक हो सकते हैं। नई शिक्षा-प्रणाली में बालक की प्रकृति आदि तत्वों के आधार पर ही उसे उस क्षेत्र विशेष में आजीविका अर्जित करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी न केवल उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व का समुचित विकास होगा, अपितु वह अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता के धरातल पर पहुँच कर जहाँ मनस्तोष प्राप्त कर सकेगा, वहाँ लोक-कल्याण के माध्यम से राष्ट्र की सेवा का गौरव भी प्राप्त कर सकेगा। अतः उपयुक्त क्षेत्र-विशेष के चुनाव की प्रणाली में परिवर्तन लाना नितान्त आवश्यक है।

उच्चतम स्तर तक आते-आते उसे राष्ट्र की आवश्यकताओं का बोध भी हो सकता है। जिस समाज में वह विकसित हो रहा है, उसके अभावों का उसे दैनन्दिन व्यवहार में आभास मिलता रहता है। वैयक्तिक अनुभव और सहयोगियों के अनुभव इस युवा को समाज के प्रति और अधिक जागरूक कर जहाँ उसकी आवश्यकताओं का बोध करवाते हैं, वहाँ उसके प्रति अपने कर्तव्य की चेतना भी देते हैं। इस प्रकार बालक स्वस्थ, विवेकशील, राष्ट्रशील सुसंस्कृत नागरिक के रूप में विकसित हो सकता है — यही हमारी शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संक्षेपतः निम्न परिवर्तन की दिशाओं का आश्रय लिया जा सकता है: —

1. भारतीय शिक्षा-दर्शन के आधार पर शिक्षा नीति व शिक्षा प्रणाली का सृजन हो।
2. भारतीय संस्कृति, गौरव और मानव-मूल्य प्रत्येक पाठ्य-क्रम के अनिवार्य अंग हो।
3. व्यावसायिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए 14 वर्ष की आयु के बालकों के लिए वर्तमान कम से कम 50% सामान्य विद्यालयों को व्यावसायिक शिक्षा संस्थानों में परिणत कर दिया जावे।
4. बालकों की प्रकृति, प्रवृत्ति, अभिवृत्ति, अभिरुचि,

शेष भाग पृष्ठ 57 पर



## समय की शिला पर मूल्यों के अभिलेख लिखे रह जायेंगे

डॉ० राकेश कुमार द्विवेदी

व्यक्ति-समाज के हित और लोक-कल्याण-हेतु मूल्य प्रतिस्थापन की यह प्रक्रिया न केवल मानव अपितु देव और दानव-समाज में भी सर्ग के आदि में ही आरंभ हो गयी थी। समुद्र-मंथन और देवासुर-संग्राम जैसी घटनाएँ इसका उदाहरण हैं। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल्यों के ध्वंस और निर्माण की सर्जना कभी स्थायी नहीं होती। समाज में प्रत्येक युग और प्रत्येक समय में किसी-न-किसी रूप में अच्छे और बुरे के बीच संघर्ष चलता रहता है, इनके बीच विरोध और व्याघात बराबर बना रहता है, संभव है कि यही संतुलन का आधार हो, क्योंकि अंधकार के बिना प्रकाश भला अपने महत्व को कैसे स्थापित कर सकता है और इसीलिए अच्छाई और सच्चाई की राह पर चलने वाले अरण्यकालीन ऋषियों ने एक स्वर में प्रार्थना की —

*‘असतो मा सद्गमय*

*तमसो मा ज्योतिर्गमय*

*मृत्योर्माऽमृतंगमय*

*ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः।*

— बृहदारण्यक उपनिषद्  
वेदोपनिषद् कालीन ऋषि-समाज ने गहनता से इस बात पर चिंतन किया कि ‘श्रेय’ और ‘प्रेय’ में मनुष्य-जीवन का ध्येय क्या है? कल्याण का मार्ग क्या है, विश्व-मानव और प्राणि मात्र के कल्याणार्थ उसका कर्तव्य क्या है? और तब अपने ज्ञानयुक्त तीसरे चक्षु से देखकर उन्होंने ‘श्रेय’ और ‘प्रेय’ दोनों को ही कल्याणकारी मानते हुए ‘प्रेय’ को मनुष्य-जीवन का ‘अर्थ’ और ‘श्रेय’ को मानव-जीवन का ‘इति’ बताया। संसार को जाने बिना परमार्थ को जानना असंभव है। शंकराचार्य ने भी माना था कि

मनुष्य के लिए परमार्थ का रास्ता इसी व्यावहारिक संसार से होकर जाता है, यद्यपि कि ‘ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या’ है किन्तु ब्रह्म को जानने के लिए इस मिथ्या जगत् का भी कम योगदान नहीं है।

वेद, उपनिषद्, आरण्यक और ब्राह्मण-ग्रंथों में जो कुछ भी कहा और लिखा गया है अथवा मनुष्य को जो कुछ भी करने के कल्याण से या दोनों से। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को बताया है कि — ‘आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति।’ अर्थात् सब कुछ आत्मा की कामना के लिए ही प्रिय होता है, और इसी आधार पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के ये चार पुरुषार्थ रचे गये, ताकि मनुष्य इहलोक में सभी पदार्थों का भोग करते, सुखपूर्वक जीवन जीते, धर्मादि कार्य करते हुए अपने जीवन को संपूर्णता में भी जी सके और अंत में परलोक के लिए भी सुगति-प्राप्ति हेतु यत्न करता रहे। ऊपर के पुरुषार्थों में ‘अर्थ’ और ‘काम’ पुरुषार्थ संसारी तो ‘धर्म’ और ‘मोक्ष’ पुरुषार्थ आध्यात्मिक हैं।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व विश्व-मानवता के लिए पूरी दुनिया में एक आंदोलन की शताब्दी है। भारतवर्ष के समाज में जब जीवन-मूल्यों का पतन होने लगा, सत्य-दर्शन और सत्य-चिंतन की जगह कर्मकांड और दिखावा का बोलबाला भी बढ़ने लगा, सत्यान्वेषी अपने मूलों से भटकने लगे और जब लिप्सा, भोग-ऐश्वर्य और राज्याधिकार की सीमा तक ही स्थिर हो गया तब ‘एशिया के ज्योतिस्वरूप’ महात्मा गौतम बुद्ध और वर्द्धमान महावीर स्वामी ने प्रेम, अहिंसा, दया, परोपकार, उदारता, सहिष्णुता और सदाचरण का पाठ पूरे देश एवं विश्व को पढ़ाया। यही कार्य जो महावीर और बुद्ध ने भारत

में किया वही कार्य ईरान में महात्मा जरथुस्ट, चीन में कन्फ्युशियस और जर्मनी में मार्टिन लूथर किंग ने किया। जीवन-मूल्यों की स्थापना और उनके विकास और उनके विस्तार में इन महापुरुषों के योगदान को दुनिया कभी भूला नहीं सकती। महावीर और बुद्ध ने तपस्या कर सत्य-दर्शन किया। बुद्ध ने सभी को एक सूत्र में सीख दी, कि यदि मूल्यवान्, सत्यवान और वीर्यवान जीवन जीना चाहते हो तो — “आत्मदीपोभव” अर्थात् अपना प्रकाश स्वयं बनो, और निःसंदेह व्यक्ति जब तक स्वयं के जीवन को प्रकाशित नहीं कर सकता, दूसरों को वह क्या प्रकाश देगा। आज चारों ओर अंधकार है, कारण? हर व्यक्ति स्वतः अंधकार से भरा है, उसमें नीर-क्षीर-विवेक नहीं रह गया है।

‘रामायण’, ‘महाभारत’, ‘कुरान’, ‘गीता’, (जो महाभारत का ही अंश है) ‘जेंद-अवेस्ता’ विश्व-मानवता के संवाहक आदि कुछ ऐसे आकर ग्रंथ हैं जिनके मूल्य-दर्शन और संदेश, विश्व-कल्याण के उपदेश समय की शिला पर आज भी उत्कीर्ण हैं और अनंतकाल तक रहेंगे। आज की शिक्षा और समाज इनके-अध्ययन-अध्यापन को भूलता जा रहा है, हमारे पतन का कारण एक यह भी है कि जीवन-मूल्यों की स्थापना और उनकी व्याख्या जिन ग्रंथों में है, जिस सभ्यता में है, जिन मनीषियों ने उनकी रचना प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए की उन्हीं के वंशजों ने उन्हें भुला दिया, उनका अपमान किया पूज्य पुरुषों और पूज्य ग्रंथों को भूला देने पर हमारे समाज की दशा वही होनी चाहिए जो आज है — ‘दुर्गतितात गच्छति।’ हम उन्हें भूल गये जो हमें बताते थे —

“त्यजेत्कुलार्थं पुरुषं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत्।  
ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मां पृथिवीं त्यजेत्॥”

—‘महाभारत’-उद्योगपर्व

अर्थात् कुल के हित के लिए एक व्यक्ति का त्याग कर दें, ग्राम-हित के लिए कुल का त्याग, जनपद-हित-हेतु ग्राम का त्याग और आत्मा के हित के लिए तो पृथ्वी तक का त्याग कर देने में व्यक्ति को नहीं हिचकना चाहिए। ‘त्याग’ का इतना बड़ा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। यह तो एक उदाहरण है ऐसे न जाने कितने दृष्टांतों से हमारी ज्ञान-संपदा संपन्न है। ‘अहिंसा’ जो इस देश का सनातन पाठ है और सभी के लिए सबसे मूल्यवान् जीवन मूल्य, उसके विषय में भी महाभारतकार कहता है —

“अहिंसा परमोधर्मस्तथा हिंसा परंतपः।  
अहिंसा परमसत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥”

‘महाभारत’ — अनुशासन पर्व

सत्य, क्षमा, शील, परोपकार, दया, प्रेम-बंधुता, सौहार्द आदि जीवन के आधार मूल्य जिनसे देश और समाज चलता है और विश्व उसका अनुकरण करता है, हमारे महान शास्त्रों ने हमेशा हमें मनुष्य बने रहना सिखाया है, और इसी रास्ते चलकर ‘जीवेम् शरदः शतम्’ का उपदेश किया है तथा गौरव-लाघव की गणना न कर ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ पूरी पृथ्वी को ही अपना कुटुम्ब बताया है। वृक्ष, पर्वत, नदियां, औषधियाँ, पशु-पक्षी, मनुष्य और देव-पर्यंत सभी के सुख-समृद्धि और शांति-सर्वभवंतु सुखिनः की कामना की है। बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा —

“चरथभिक्खवेचारिकं, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।

लोकानु कपाय अत्थाम हिताय सुखाय देवमनुस्यानां॥”

‘विनयपिटक’ — महावग्ग

मुझे लगता है कि जीवन मूल्य की शिक्षा आज भी इन्हीं और ऐसे ही ग्रंथों से देनी चाहिए



जिनमें कथा-कहानियों के माध्यम से सत्य-पथ पर बढ़ने के लिए आकर्षण पैदा किया गया है। भारतीय वांगमय का जो भी उत्कृष्ट है वह प्राचीन है और अर्वाचीन इसी महान का उच्छिष्ट मात्र है, दुर्भाग्य यह कि आज सभी ने इनकी ओर से मुख मोड़ लिया है, इन्हे अप्रासंगिक करार दे दिया है। सभ्यता और संस्कृति जब अपनी जड़ों को छोड़ देती हैं तो उसका पतन सुनिश्चित हो जाता है। पाश्चात्य अंधानुकरण ने आज हमें अपने जड़-मूलों से अलग कर दिया है और हम दिनोंदिन उससे कटते जा रहे हैं। आधुनिक काल अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है यांत्रिक-भौतिक सभ्यता का चरम विकास, शिक्षा-स्वास्थ्य-चिकित्सा विज्ञान, अभियांत्रिकी, भौतिक, रसायन, विज्ञान एवं तकनीकी, राजनीति-प्रजानीति, स्वार्थनीति सभी का चरम विकास; किंतु सर्वत्र निराशा, तनाव, उदासी, कुंठा भरा, वातावरण व्याप्त है। हर व्यक्ति, हर घर, प्रत्येक समाज व्यथा और पीड़ा से भरा है। संबंधों की मधुरता, आदर्श और प्रगाढ़ता का सारा जल जाकर गंदे नाले से मिल गया है। खून के रिश्तों तक का कत्ल हो रहा है। तुलसीदास उन्हीं रक्त के कणों से अपनी 'खण्डित पीड़ा की रामायण' लिख रहे हैं, कवि मुक्तिबोध कहते हैं -

**‘दुर्दान्त ऐतिहासिक स्पंदन के लाल रक्त से लिखते तुलसीदास आज अपनी पीड़ा की रामायण।’**

—चाँद का मुँह टेढ़ा है

राजनीति के छलछद्म से जीवन का हर क्षेत्र और समाज संचय कर रहे हैं। अपराधी नेता बन रहे हैं और अकूत धन-संपत्ति का संचय कर रहे हैं। जनता अकाल की मारी भूखों मर रही है, युवा-बेरोजगार अपराधी हो रहे हैं। अमीर-अमीर और गरीब-गरीब होता चला जा रहा है। थोड़े से

धन-सम्पत्ति या मामूली विवादों में मनुष्य कत्लेआम हो रहा है। प्रबल राष्ट्र भी दुर्बल राष्ट्रों को धमका रहे हैं। अमेरिका, जो विश्व की आर्थिक धुरी बना है, सबको बंदर घुड़की देता रहता है। न्याय-व्यवस्था, पुलिस-प्रशासन सभी भ्रष्ट हो गये हैं, अनाचार और पापाचार सर्वत्र व्याप्त है, पापी अपनी शक्ति-प्रताप से आगे जा रहे हैं और पुण्यात्मा को रोटी के लाले पड़ें हैं। देश की लड़कियाँ और महिलाएँ हालीवुड और बालीवुड की नकल करने पर तुली हैं उन्होंने देश की मान-मर्यादा, संस्कार सबसे तौबा कर लिया है। राजनीतिक के मंच पर अपने को गाँधी का अनुयायी कहने वाले बूढ़े स्यारों का जमघट लगा हुआ है, जो मसीहा बनकर देश को लूट रहे हैं तथा संविधान को दीमक की तरह चाट रहे हैं वे जैसे ही मरते हैं कि उनकी कब्र से उन्हीं जैसा पुनः कोई देशभक्त शपथ लेता हुआ दिखाई पड़ता है। संक्षेप में, यहीं भारत की दुर्दशा है। ऐसे में भी मूल्य की बात करना हास्यास्पद लगता है, पर वास्तव में जीवन मूल्यों पर सार्थक बहस, उनकी महत्ता, उनका जीवन में आचरण ऐसे विघटनकारी दौर में और अड़ि तक महत्वपूर्ण हो जाता है, जब सर्वत्र अँधेरा ही अँधेरा हो तो वहाँ रोशनी की एक किरण भी बहुत मूल्यवान प्रतीत होती है। ईश्वर के प्यारे और अल्लाह के नेक बंदों के लिए, जो जीवन में, देश और समाज में, लोगों के बीच, लोगों के लिए कुछ करना चाहते हैं, उन्हें अवश्य ही सहोत्साह आगे आना चाहिए। 'नेकी' और 'बदी' के बीच के अंतर को बताकर और स्वतः उस तरह का जीवन जीकर, भटके हुए लोगों को यदि जरा भी सही रास्ते पर ला सकें, तो जीवन-मूल्यों पर चर्चा करना सार्थक हो सकता है। उनके इस कार्य में 'समय की पुरानी शिलाओं पर जो मूल्यों के अभिलेख खुदे हैं,' अवश्य ही उनका मार्ग-दर्शन करेंगे, ऐसा मैं समझता हूँ।♦

## आधुनिकीकरण और मूल्य बिखराव

डॉ० दीनानाथ सिंह

आमजन में ग्लोबलाइजेशन बाजार पद्धति से प्रवेश करता है। नये विचार के कारण नये मार्ग निर्मित होते हैं। यह कार्य साम्राज्यवाद के आक्रमण से आगे का है। रविन्द्रनाथ टैगोर ने इस परिवर्तन के प्रति आगाह किया था कि आज जिस रूप में अंग्रेज दिखाई देते हैं कल उनका रूप भारतीय होगा। ग्लोबलाइजेशन यही कार्य कर रहा है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में यह तोड़-मोड़ की भूमिका में है। तोड़ का अभिप्राय मूल्य को नष्ट करना है तथा मोड़ का अर्थ अपने जैसा बनाना है। इनके द्वारा अपने जैसा ढालने से चेहरा, मूल्य, स्वरूप बदल रहा है। इस स्थान का बदलाव न होने से मूल्य के गिरावट से बदलने वाले बेखबर हैं। पश्चिम की सभ्यता ने जितना उनका वश चला है उतना बदलाव किया है। यह कार्य यूरोप की आदत के कारण निरन्तर चला है तथा अब विकसित देश कर रहे हैं। आज यह कार्य उनके लिए अमेरिका कर रहा है। वाशिंगटन सर्वानुमतता को मानने के लिए विश्व विवश है। यह कार्य अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा पर नियंत्रण से प्रारम्भ हुआ। शिक्षा सामाजिक सरोकार को पूरा करने से दूर हो गई। 28 अप्रैल 1968, को नई दिल्ली में आयोजित शिक्षा मंत्रियों के दसवें सम्मेलन में यह महसूस किया गया कि शिक्षा में पृथकता और मूल तत्वों की शून्यता के कारण देश शक्ति का नाश हुआ। 'आधुनिक शिक्षा' ढांचा ऐसा है जिससे रचनाधर्मी मूल्य स्थापित नहीं हो पा रहे हैं तथा हम परम्परागत मूल्य से अपरिचित हो गये हैं। हमारे पूर्वजों ने ईश्वर से प्रार्थना की थी, 'प्रादुर्यतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिवृद्धिं ददातुम्।' अर्थात् मैं इस राष्ट्र में पैदा हुआ हूँ उसकी तलाश अब इस संवेदनशील मनुष्य कर रहा है। यही कारण है कि

महामना मदन मोहन मालवीय जी, शिक्षा में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित नैतिकता के गुणों के समावेश पर बल देते थे, जिससे मानव समाज के अनाक्रांत अस्तित्व और गुणों का विकास हो सके।

आधुनिकीकरण एक जटिल मिश्रित बहुस्तरीय संप्रत्यय (Concept) है। विकास और परिवर्तन जुड़वा (Twin) हैं। 19वीं सदी से प्रथमतः यूरोप और तत्पश्चात अमेरिकी देशों में तीव्र गति से आधुनिकीकरण हुआ। संप्रति 'सामाजिक परिवर्तन' विकास शब्द से अभिव्यक्त होता है। वैश्वीकरण के पक्षकारों ने इसे विकास, सेवा, शिक्षा, सुरक्षा, तकनीकी कृषि आदि क्षेत्रों में इसे औचित्यपूर्ण बना दिया है। आधुनिकीकरण से अभिप्राय व्यक्ति के ज्ञान तथा उसका पर्यावरण पर नियंत्रण और तदनुकूल सामाजिक परिवर्तन है। आधुनिक संरचना विकास की एक प्रक्रिया है जिसका प्रयोग आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक, वैश्विक संकुल का निर्माण और आर्थिक विकास के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता अवसरों की समानता की मांग किन्तु मुक्त व्यवसाय के स्तरीकरण के रूप में और राजनीतिक क्षेत्र में धर्मनिरपेक्ष, उदारवादी लोकतंत्र, विश्ववादी सहभागिता और संभ्रान्तजनों (Elites) के प्रभाव के रूप में हो रहा है। परिवर्तन के आदर्श प्रारूप या ढाँचा विकसित देश हैं। जीवन प्रणाली पर समृद्ध लोगों का प्रभाव है किन्तु, सर्वत्र स्पष्टता के अभाव में विकास का मापदण्ड व्यक्ति है समाज और राष्ट्र के संदर्भ हांसिये पर हैं।

आधुनिकीकरण में व्यक्ति विकास की प्रक्रिया में अन्तिम शीर्ष तक पहुँचना चाहता है तथा दौड़ में अन्य को पीछे छोड़कर अनिर्धारित लक्ष्य का मार्ग तय करता है। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक



व्यवस्थाओं में रूपान्तरण के कारण उपव्यवस्थाएँ जन्म लेती हैं। सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया में गतिशीलता के कारण लौकिकीकरण, नवीन आर्थिक संगठनों, अधिकारी तंत्र, प्रशासन, अर्थव्यवस्था तथा व्यावसायिक विविधता में वृद्धि हर प्रकार विशेषीकरण में विभेदीकरण का प्रश्रय उच्च सहभागिता को बढ़ावा आदि आधुनिकीकरण के दिखाई पड़ने वाले प्रारूप हैं। इन प्रारूपों में प्रगति की आकांक्षा तो है किन्तु किसी उच्च आदर्श के प्रारूप का अभाव है।

वैश्वीकरण स्वतः आधुनिकीकरण से स्फूर्त व्यवस्था न होकर विकसित देश/देशों की हित योजना तथा उनकी संतुष्टियों से मुक्त शिक्षा, सेवा, सुरक्षा, धन, बचत, जोखिम, राजनीतिक अनुशासन का प्रस्ताव है। बिना किसी प्रतियोगिता के उपार्जित लाभों के संभावना के प्रति प्रोत्साहन देने की व्यवस्था है। समृद्ध वर्ग, तंत्र और व्यक्ति स्वविकास में प्रतियोगिता का मार्ग समाप्त करता है। व्यक्तिवादी नागरिक भूमिका की संरचना से समष्टिवादी या सम्पूर्णता के प्रति समझ बढ़ाने का आग्रह है। बनावटी (Synthetic) लौकिकीकरण का आकर्षण मुक्त विकास के लिए निरन्तर परिवर्तन एवं अनुकूलन क्षमताओं के प्रति उद्देश्य बनाने का आग्रह आधुनिकीकरण की राह है।

मूल्य बिखराव के प्रेरक आधुनिकीकरण के समर्थक हैं। आधुनिकीकरण नवीन प्रवर्तन है। इसके प्रेरकों का मानना है कि बौद्धिकता और व्यक्तिवादिता को सार्वभौमिक आधार प्रदान किया जाय। इस कारण ये मूल्यों को पारम्परिक घोषित करके संरचना एवं प्रकार्य से इन्हें अमान्य या बेदखल किये जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। सामाजिक न्याय का लौकिकीकरण का स्वरूप होने से इसका समाज से कोई सरोकार नहीं है। परिवर्तन के कारण प्रचलित व्यवस्थाओं के मध्य से (बिना मूल जड़ के) नवीनतम यथा समाज के मध्य नागरिकता और नवीन सभ्यता

के विचार के उपसमूहों या प्रभावी समूह उपार्जित या बाहर से हस्तान्तरित/स्थान्तरित, लुभावने या दिखावटी आकर्षक प्रतिमानों के कारण भाव प्रत्यय विस्मृत हो रहा है। आदर्शों, विश्वासों एवं मान्यताओं के कारण आदर्श जीवन संचालन के लिए मूल्य-बोध आधार वाक्य है। अब आधुनिक विकास के प्रेरक इन्हें काल्पनिक विचारधारा कहते हैं। अनुभव, आदर्श आदि प्रतिमानों के आधार पर सामाजिक स्थितियों को वास्तुनिष्ठ सिद्धान्त प्रदान करना तथा इनसे जुड़े नैतिक मूल्यों को आधार मानकर अच्छे बुरे का मूल्य निर्णय लेना, मनुष्य के जीवन का अस्तित्व है। इसी से अनिवार्य आत्मनिर्भर और सर्वोच्च नैतिक व्यक्तित्व का विकास संभव है। किन्तु आधुनिकीकरण में इसे अव्यवहारिक और अप्रासंगिक विकास कहा जाने लगा है नैतिक होना या नैतिकता की बात कहना दुर्बल या साधनहीन विकास रहित लोगों का आधार रहित अनुराग का लगाव है। इसके आधार पर विकास का रास्ता नहीं प्राप्त किया जा सकता। संकट यह है कि आधुनिकीकरण मूल्य व्यवस्था के दार्शनिक और आदर्शात्मक संदर्भों में मानवीय खामियाँ दृढ़ता है तथा खामियाँ दूर करने के नाम पर भौतिक बाह्यता को लादता है। मूल्य सिद्धान्त की आलोचना 20वीं सदी के दूसरे दशक से प्रारम्भ है। इसे अप्रासंगिक, अव्यवहारिक तथा बन्द कमरे के भूँकने वाले कुत्तों की संज्ञा दी गई। ये तत्त्व मूल्य बिखराव के कार्य को उत्साहित करते हैं।

उत्तर आधुनिक समय में व्यक्तिवाद आधारित विकास की चरम योजना ने मूल्य संयोजन पर विचार-विमर्श करने के लिए मजबूर किया है। किन्तु उत्तर आधुनिक चिंतक (ईस्टन, हेस) आदि कहते हैं कि इस आधार पर समाज की समस्याओं, संकटों और चुनौतियों को परखने से यह अभिप्राय



# गाँधीजी और भारतीय सभ्यता की मूल्य विवेचना

डॉ० श्रवण कुमार गुप्त

संस्कृति एवं सभ्यता एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि बिना किसी एक दूसरे के ये दोनों शब्द अपने-आप में कोई अर्थ नहीं रखते। संस्कृति के साथ सभ्यता जुड़ी है और सभ्यता के साथ संस्कृति जुड़ी है। ये दोनों मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा के परिणाम हैं और मानव की सांस्कृतिक विरासत की एक ऐसी धरोहर हैं जिसके द्वारा, वह अपने समाज व राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि, संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का अपने-आप में पूर्ण विकसित रूप है। विचार और कर्म के क्षेत्रों में जो राष्ट्र का सर्जन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति मानव जीवन की प्रेरणादायिनी शक्ति है। संस्कृति निर्माण किसी व्यक्ति विशेष का कृत्य न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया बौद्धिक प्रयास होता है। जबकि सभ्यता का मूल सम्बन्ध 'सभा' से है। सभा में बैठने की समझ रखने वाला या उसमें भाग लेने वाला सभ्य कहलाता है और सभ्य का उचित व्यवहार 'सभ्यता' कहलाता है। संस्कृति का सम्बन्ध धार्मिक विश्वास से तथा सभ्यता का सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से होता है। जैसा कि मैकाइवर कहते हैं कि 'सभ्यता और संस्कृति मानव के सृजनात्मक क्रियाकलापों के परिणाम हैं।' जब ये उपयोगी लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं तब सभ्यता का जन्म होता है और मूल भावना, चेतना तथा कल्पना को प्रबुद्ध करते हैं तब संस्कृति का उदय होता है।

**गाँधीजी की दृष्टि में सच्ची सभ्यता का आशय—**

जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखायी है, उस सभ्यता को पाने में दुनिया का कोई भी देश नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं,

उसकी बराबरी में रोम, मिस्र, जापान, चीन या अन्य कोई भी देश उसकी बुनियाद को कोई आँच नहीं ला सकता क्योंकि आज भी हमारा हिन्दुस्तान अपनी बुनियाद में काफी मजबूत है।

भारतीय सभ्यता की कुछ मूलभूत विशेषताओं के कारण ही कोई भी देश हमारे लोगों को गुलाम नहीं बनाये रख सका। इतिहास गवाह है कि तुर्क, मुगल या अंग्रेजों ने हमें तभी गुलाम बनाया है जब हमने अपनी सभ्यता की विशेषताओं को त्यागा है। गाँधीजी की दृष्टि में हिन्दुस्तान अंग्रेजों ने हमसे अपने दम एवं शौर्य से नहीं लिया बल्कि हमने उन्हें दे दिया था। हिन्दुस्तान में वे अपने बल से नहीं टिके थे बल्कि हमने उन्हें टिका रखा था। उदाहरणार्थ, जब अंग्रेज हमारे देश में व्यापार करने के लिए आये तो वे यह भी नहीं जानते थे कि एक दिन वे हिन्दुस्तानियों पर राज्य भी करेंगे। लेकिन हमीं लोगों ने उनकी चाँदी के सिक्कों को देखकर कुछ स्वार्थवश अपनी उस भारतीय संस्कृति व सभ्यता को छोड़ करके जब उनको लेने का मोह शुरू किया तो हमने स्वयं ही अपना राज्य या अपने लोगों की स्वतंत्रता व स्वच्छन्दता की तिलांजलि देने की शुरुआत कर दी। इसी एक भूल का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने हमारे बीच में वैमनस्यता, फूट व विरोध पैदा करके अपना अंग्रेजी राज्य कायम किया और हमारे हाथों से हमारा प्यारा हिन्दुस्तान अंग्रेजों के हाथ में गया।

गाँधीजी कहते हैं कि सबसे पहले हम सभी यह सोचें कि सभ्यता किस हालत का नाम है। इस सभ्यता की सही पहचान तो यह है कि लोग बाहरी दुनिया की खोजों में और शरीर के सुख में

धन्यता-सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं। जैसा कि पहले लोगों को मार-पीटकर गुलाम बनाया जाता था परन्तु आज लोगों को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है। पहले लोग दो या तीन बार खाते थे और वह भी खुद हाथ से पकायी हुई रोटी और थोड़ी तरकारी, अब तो हर दो घण्टे पर खाना चाहिए और वह यहाँ तक कि लोगों को खाने से फुरसत ही नहीं मिलती। ये सब सभ्यता की सच्ची निशानियाँ मानी जाती हैं और अगर कोई हमसे अलग सोचता है या धारण करता है तो वह भोला माना जाता है। गाँधीजी की दृष्टि में सभ्यता के नाम पर जो नीति के नाम से अनीति सिखलायी जाती है वह नीति हो ही नहीं सकती क्योंकि वह धर्म नहीं है क्योंकि धर्म तो हमें धारण करना सिखलाती है जबकि उपरोक्त बातों में अनीति ही दिखायी पड़ती है। उसमें तो बस केवल शरीर के सुख के लिए ही इंतजाम किया गया है। इसी शारीरिक सुख को ही आज की सभ्यता ढूँढ़ती है और यही देने की कोशिश करती है परन्तु वह सुख भी नहीं मिल पाता।

गाँधीजी पुनः कहते हैं कि *“सभ्यता वह आचरण है, जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का आशय है नीति का पालन करना और नीति के पालन का आशय है अपने मन, और इन्द्रियों को वश में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को यानी अपनी असलियत को पहचानते हैं। यही सभ्यता है और जो इसका उल्टा है वह बिगाड़ करने वाला यानी असभ्यता है।”*

(गाँधी, हिन्द स्वराज्य, पृ0सं0: 62)

हमारे देश में राजा, ऋषि, फकीर व ज्ञानी लोग अपने लोगों को यानी सभी के लिए नीति-निर्माण के द्वारा सुखपूर्वक रखने के लिए सभाओं यानी विभिन्न प्रकार की सभ्यताओं का

पालन किया करते थे। जब तक हमारे लोगों ने अपनी भारतीय सभ्यताओं को धारण किया तब तक कोई भी समस्या नहीं आयी। लेकिन जब-जब हमने अपनी सभ्यताओं को छोड़कर दूसरी सभ्यताओं को अपनाना शुरू किया, तब-तब अपनी आजादी को उन लोगों के ऊपर छोड़ दिया। जैसा कि गाँधीजी भी कहते हैं कि हमारे देश की सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है और पश्चिमी सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है। जबकि हिन्दुस्तान की सभ्यता ईश्वर की आस्था रखने वाली है और पश्चिम की सभ्यता निरीश्वरवादी है।

**वर्तमान समय में सभ्यता का भारतीय परिदृश्य—**

आज हम सभी लोग अंग्रेजों की गुलामी से आजाद हो चुके हैं लेकिन हम सभी लोग चहुँओर देखें तो यह विदित होता है कि वर्तमान भारतीय समाज अनेकों समस्याओं से घिरा हुआ है। इन समस्याओं में आज सबसे बड़ी समस्या है *“भ्रष्टाचार”*। यह एक ऐसी समस्या है जो कि हम सभी को सोचने पर बाध्य कर रही है, कि कहीं फिर से हमारा देश गुलाम तो नहीं हो जाएगा? क्या फिर कोई ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत आयेगी और चाँदी के सिक्कों को दिखायेगी और हमारा सुख-चैन छीनकर हमें गुलामी का रास्ता दिखाएगी? एक बार हम सभी को पुनः इतिहास का पुनरावलोकन करना होगा और गाँधीजी द्वारा लिखित *‘हिन्द स्वराज्य पुस्तक’* को भी हम सभी भारतीयों को पढ़ना होगा और पुनः एक बार सोचना होगा कि हिन्दुस्तान कैसे अंग्रेजों के हाथों में चला गया? उस समय तो मात्र एक ब्रिटिश कम्पनी ने कितने वर्षों तक हमारे ऊपर अपना राज्य किया? लेकिन आज तो हमारे देश में कितनी विदेशी कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं। समय रहते यदि हमारी केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने और



यहाँ की जनता ने इनकी सोचों को नहीं समझा तो वह दिन दूर नहीं कि पुनः एक बार हम सभी भारतीय अपनी भारतीय संस्कृति व सभ्यता को छोड़ देंगे। आज भारतीय खान-पान, रहन-सहन व पहनावे तथा अपनी भाषा के विकास में भी हम अपने को सन्निकट लाना तो दूर, हम सब पाश्चात्य सभ्यताओं की तरफ बढ़ते चले आ रहे हैं। जहाँ तक सवाल है 'भ्रष्टाचार' का तो यह आधुनिक भारत में प्रत्येक सरकारी, अर्धसरकारी यहाँ तक कि जनमानस की सोच में भी यह अपना स्थान ग्रहण करता जा रहा है। न्यायपालिका, कार्यपालिका व व्यवस्थापिका जैसे राष्ट्रीय स्थानों में भी यह अपना जड़ जमा चुका है। जिसका परिणाम हम भारतीय परिदृश्य में सुन व देख रहे हैं। उदाहरणार्थ सरकारी विभागों के कई दफ्तरों में अधिकारी व बाबू वर्ग आपस में मिलकर भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहे हैं। जहाँ कभी सारे कार्य नीतिपूर्वक एक सभ्यता रूपी ढंग से हुआ करते थे, वहाँ पर आज बिना पैसे के लेन-देन से कोई भी फाइल आगे की टेबल पर नहीं पहुँचती है। आज यह रोग अपनी विकराल अव्यवस्था यानी महामारी का रूप ले चुका है। जैसे कि जस्टिस काटजू ने कहा है कि भारत में भ्रष्टाचार पूरी तरह सभी के दिलोदिमाग में भर चुका है यानी हम भारतवासी भ्रष्ट हो चुके हैं और हमने एक प्रयास भी किया था लेकिन मैं भी रोकने में सफल नहीं हो सका। ऐसा वक्तव्य हमारे देश के एक न्यायधीश के द्वारा दिया गया है क्योंकि उन्हीं के बेन्च में हरियाणा राज्य के जे०बी०टी० में शिक्षकों की नियुक्ति का मामला था। यहाँ पर जो शिक्षक पहले से शिक्षण कार्य कर रहे थे जब उन्हें नौकरी देने की बात आयी थी, तब वहाँ दूसरे लोगों को नियुक्त कर दिया गया। न्यायधीश भी समझ रहे थे कि वे फर्जी हैं लेकिन साक्ष्यों के अभाव में तथा भ्रष्टाचार की सभ्यता को धारण करने वाले लोगों के

कारण उन्हें सही व्यक्ति को शिक्षक नियुक्त न कर पाने तथा वे जिन्हें चाहते थे, उन्हीं को नियुक्त करना पड़ा। प्रश्न यह उठता है कि क्या हमारे देश के हुक्मरानों, राजनेताओं व बाहुबलियों के कारण जो भारतीय सभ्यता के उन भारतीय मूल्यों जैसे आदर्श, सत्य, ईमानदारी, आत्मविश्वास, आदर, कर्म की पूजा इत्यादि को सम्मान एवं यश मिलता था, वहीं पर आज भ्रष्टाचार रूपी बुराई धड़ल्ले से अपना एक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक स्तर पर स्थान बना चुकी है। इस समस्या से आज सभी लोग त्रस्त हैं लेकिन कोई इसे दूर करने का प्रयास भी करता है तो उसके ऊपर विभिन्न तरीके से दबाव बनना शुरू हो जाता है। वह दबाव राज, समाज एवं शिक्षा तीनों ही स्तरों पर देखने को मिलता है।

प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों हो रहा है? क्या यह कभी बन्द नहीं होगा? इसकी शुरुआत कौन करता है? जब कोई इसका विरोध करता है तो उसे अपने सभी मूल्यों की कीमत भी चुकानी पड़ती है। इन सभी प्रश्नों का मेरी दृष्टि में एक ही उत्तर है कि आज हम सभी भारतीय भाई व बहनों के अन्दर अपने मूल्यों की प्रतिबद्धता में कमी के कारण, अपनी भारतीय सभ्यता को छोड़ करके, मात्र अपने ही स्वार्थ यानी वैयक्तिक सुख-सुविधा को ध्यान में रख करके ही, सभी के कल्याण की भावना यानी 'सर्वमंगल' और 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भारतीय सभ्यता को छोड़ करके भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहे हैं।

अब समय आ गया है कि हम सभी भारतीय गाँधीजी के दृष्टिकोण को पुनरावलोकित करने का प्रयास शुरू करें। यह तभी सम्भव है जब हम उनके द्वारा रचित 'हिन्द स्वराज्य' की पुस्तक का स्वअध्ययन करें और दूसरों को भी उसका अध्ययन करने के लिए प्रेरित करें।



**निष्कर्ष :**

निष्कर्ष रूप में आज मैं भी गाँधीजी की ही तरह सारे भारतवासियों से यही कहना चाहता हूँ कि जैसा कि गाँधीजी ने आजादी के पहले जब हमारा देश आजाद नहीं बल्कि अंग्रेजों द्वारा बनाये गये नियमों—कानूनों व उनकी नीतियों का पालन करने के लिए तथा गुलाम भारत में जीने के लिए विवश था, तब उस समय गाँधीजी ने वर्ष 1909 में स्वरचित पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में अंग्रेजों द्वारा पोषित 'आधुनिक सभ्यता' यानी पाश्चात्य सभ्यता का त्याग करने के लिए कहा था कि यदि हमें हिन्दुस्तान में स्वराज्य लाना है तो इसे त्यागना होगा। इसके लिए हमारे देश के वकीलों, डॉक्टरों, शिक्षकों इत्यादि सभी को अपनी भारतीय सभ्यताओं को अपनाना होगा। लेकिन वर्तमान समय में आज हम सभी भारतीय तो आजाद हो गए हैं लेकिन आज उनके द्वारा रोपित उनकी सभ्यताओं को आज भी हम नहीं छोड़ पा रहे हैं। चाहे वह रहन—सहन, खान—पान या शिक्षा के क्षेत्र में ही क्यों न हो? सबसे बड़ी बात, यह है कि आज हमारे राष्ट्र की कोई भी भारतीय भाषा 'राष्ट्रभाषा' का रूप नहीं ले सकी है। कहने को तो हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा का रूप लेगी लेकिन आजादी के बाद, आज तक यह सभी राज्यों के शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर भी यह शिक्षा में समझ का माध्यम नहीं बन पायी है। इसका स्थान तो अंग्रेजी ने ही लिया है। कहने को तो हिन्दी बहुतायत लोगों की भाषा है लेकिन अंग्रेजी को आज भी हम प्रश्रय देते चले आ रहे हैं। हमारी सभ्यता का विकास तभी होगा जब हम सभी हिन्दुस्तानी इसे अपनी भाषा का अविभाज्य अंग बनायें।

अब समय आ गया है यदि हमें अपनी भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों की रक्षा करनी है तो हम सभी हिन्दुस्तानियों को एक बार पुनः गाँधीजी

के ही शब्दों में समझकर, ऐसी श्रद्धा रखकर, हिन्दुस्तान की सभ्यता से, बच्चा जैसे माँ से चिपका रहता है, वैसे चिपके रहें, तभी हम भ्रष्टाचार को मिटा सकते हैं और वैश्विक स्तर पर भारतीय मूल्यों की अपनी पहचान बना सकते हैं। ♦

---

पृष्ठ 44 का शेष भाग

नहीं लगाया जाना चाहिये कि परम्परावाद का पुनरुत्थान हो रहा है। शिक्षा से मूल्य बिखराव रोका जा सकता है किंतु संकट यह है कि शिक्षा और सेवा मूल्य बिखराव का साधन बनती जा रही है। 'साइंस' तथा 'अमेरिकन एसाशिएसन फार एडवांसमेंट ऑफ साइंस' ने मिलकर दुनिया के पुरातन आविष्कारों का मूल्यांकन किया। 14 जनवरी, 2000 को 96 आविष्कार 'सिंबल' का श्रेय भारत की ओर है। किंतु चुनौती है कि डिक टेरेसी यह कहकर देते हैं कि शून्य की अवधारणा के प्रति भारत की समझ नहीं थी। अतः सभ्यता, संस्कृति, ज्ञानार्जन तरीके, शिक्षा, सामाजिक व्यवस्था को निकृष्ट बताते रहने के कारण विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन के साथ निरन्तरता का तारतम्य तोड़ते रहना — 'मूल्य बिखराव' का अद्यतन स्वरूप है। कारण निराकरण तथा रक्षोपाय खोजे जाने चाहिए ताकि मूल्य बिखराव को रोका जा सके। मूल्य के संरक्षण की बात करते समय कुछ सतर्क करने वाली बातें हैं। मूल्य को पूंजी पद्धति पर परखने वाले अध्यात्म और एकात्म चिंतन का आधारभूत रास्ता छोड़ देते हैं। पूंजी आधारित बाजार का यह मौलिक ध्येय होता है। किंतु यह खबरदार करने के लिए पर्याप्त है कि पूंजीवाद जीवन के अवसर का अन्य विकल्प समाप्त कर देता है। ♦

## शिक्षा एवं मूल्य : एक विश्लेषण

डॉ० शैलेन्द्र वर्मा\*  
श्रीमती शुभा मिश्रा\*\*

“विद्याविहीनः पशुः” अर्थात् विद्या से रहित मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा एक ऐसा दीपक है जो अज्ञानता रूपी अन्धकार को सदा के लिए अन्त कर सकता है क्योंकि अंधकार को कोसने से अच्छा है, एक दीपक जला दिया जाए।

प्लेटो ने कहा था कि शिक्षा ही शक्ति का स्रोत है। शिक्षा सर्वांगण विकास की आधारशिला है। शिक्षा द्वारा सुयोग्य नागरिक निर्माण की प्रक्रिया को आधार प्राप्त होता है जिससे प्रत्येक नागरिक में भावी चुनौतियों का सामना कर युग अपेक्षाओं के अनुरूप राष्ट्र के विकास में सर्वश्रेष्ठ योगदान की क्षमता का विकास होता है।

शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं—पहला एवं मूल उद्देश्य है—व्यक्ति को मानवता, नैतिकता, सभ्यता अर्थात् साररूप में मानव—मूल्यों का विकास करने में सहायता करना तथा दूसरा वह आजीविका का साधन होती है, किन्तु वर्तमान भारतीय समाज में जिस प्रकार से मानव मूल्यों का ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है उससे स्पष्ट है कि शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति करने में विफल सिद्ध हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी शिक्षा पद्धति सुख आदि से जुड़ी हुई है। इसमें मानव मूल्यों के प्रति आदर जागृत करने की भावना का अभाव है। इसमें मानसिक शांति आध्यात्मिक उत्थान तथा आंतरिक विकास के लिए कोई जगह नहीं है। अतः आज आवश्यक हो गया है कि हमारी शिक्षा पद्धति के आधार में मानव मूल्य हों, इसके मूल में भारतीय संस्कृति की गरिमा हो, हमारे आदर्श हों तभी सही

दिशा में हम आगे बढ़ सकेंगे।

जिस प्रकार किसी भव्य इमारत के टिके रहने के लिए उसकी नींव मजबूत होनी चाहिए उसी प्रकार एक उन्नत राष्ट्र के नवनिर्माण के स्वप्न को साकार करने के लिए देश के नागरिकों की विचार शक्ति स्वस्थ एवं व्यापक होनी चाहिए। विचारों में बहुत शक्ति निहित है। विचारों से विचार मण्डल का सृजन होता है और यह सृजनशीलता इंगित करती है कि हमारी सोच किस दिशा में और कितनी व्यापक एवं सार्थक है। यह विचारमण्डल वातावरण को अच्छे एवं बुरे दोनों रूपों में प्रभावित करता है। आज भारत सांस्कृतिक प्रदूषण के जिस शिखर की तरफ तेजी से कदम बढ़ा रहा है उसके पीछे यही दूषित विचारशक्ति का होना है।

अतः निश्चित रूप से हमें शिक्षा के माध्यम से एक क्रान्ति लाने की आवश्यकता है वह क्रान्ति ऐसी हो जो राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के मानस को व्यापक बनाये, उसके अन्दर “वसुधैव—कुटुम्बकम्” का भाव विकसित करे। नैतिकता, शिष्टाचार, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, शाश्वत मूल्यों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

आज हम देखते हैं कि विकासवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण आध्यात्मिकता एवं आस्था की भावना क्षीण हो रही है। आधुनिक दर्शन एवं मार्क्सवाद, व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद, भौतिकवाद के ज्यादा प्रचार के कारण तर्क एवं बौद्धिकता का आधिक्य हो गया है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, जनसंख्या विस्फोट, कृत्रिम यौनाचार

\*असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी विद्यापीठ, वाराणसी

\*\*शोध छात्रा, शिक्षा शास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी विद्यापीठ, वाराणसी



को बढ़ावा देने वाले वैज्ञानिक उपकरण एवं पद्धतियों के प्रचार-प्रसार आदि ने मानवीय आदर्शों, शाश्वत मूल्यों, विश्वबंधुत्व की भावना, धर्मनिरपेक्षता आदि मूल्यों को हाशिये पर ला खड़ा किया है।

इन समस्याओं से छुटकारा पाने का केवल एक ही उपाय है और वह है मूल्यों एवं आदर्शों पर आधारित शिक्षा द्वारा राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को शिक्षित बनाना, क्योंकि शिक्षा ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा सहयोग, प्रेम, करुणा, शान्ति एवं अहिंसा, साहस, समानता, बंधुत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण, विभेदीकरण की शक्ति आदि मौलिक गुणों का विकास किया जा सकता है। शिक्षा द्वारा देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में वांछित सुधार लाकर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को जागरूक बनाया जा सकता है।

**ह्यूगो के शब्दों में** “जो मनुष्य एक पाठशाला खोलता है, वह संसार का एक जेलखाना बन्द कर देता है।” यहाँ पाठशाला का अर्थ ऐसी संस्था से है जहाँ शिक्षा मानव-मूल्यों पर आधारित हो। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सोलहवें राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने एक पत्र में अपने पुत्र को इसी प्रकार की शिक्षा देने की बात कही जिससे उसका मानसिक स्तर उन्नत हो सके। उन्होंने लिखा “.....  
.....उसे यह शिक्षा दें कि वह अपना मस्तिष्क तो सबसे उँचे दाम देने वाले के हवाले करे, लेकिन अपनी आत्मा और विश्वास के दाम न लगाये।”

बेंजायिन डिजैरेली के इस कथन “Almost everything that is great has been done by youth” को भारतीय सन्दर्भ में सार्थक बनाया जा सकता है यदि राष्ट्र पूर्ण शिक्षित हो एवं अपने संस्कारों को अपना आदर्श बनाकर कर्तव्य पथ पर आगे बढ़े। भारत का शिक्षित युवा अगर सही सोच

रखे, जीवन मूल्यों एवं राष्ट्र गरिमा का ध्यान रखे तो देश कितनी उन्नति करेगा यह कल्पना से परे है। वर्तमान समय में बालकों को मूल्य आधारित शिक्षा की आवश्यकता को महसूस करते हुये शिक्षाविदों ने मूल्य शिक्षा की वकालत करते हुये शिक्षकों तथा अभिभावकों के लिये मूल्य शिक्षा के विभिन्न उपागमों का निर्माण किया। शिक्षाविदों ने मूल्य शिक्षा के विकास हेतु आवश्यक प्रमुख उपागम अधोलिखित क्रम में प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार मूल्य शिक्षा के प्रमुख उपागम इस प्रकार हैं—

**(1) मूल्य स्पष्टीकरण—** यह प्रत्यय एक विशिष्ट वातावरण के निर्माण से सम्बंधित है जिसमें एक बच्चे को स्वयं अपने विवेकानुसार मूल्य को खोजने, परखने व अनुप्रयोग करने की स्वतंत्रता होती है जिसके आधार पर वह स्वयं के लिए उचित नैतिक वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस उपागम में शिक्षक को पक्षपात रहित होकर प्रश्नोत्तर विधिक का उपयोग करने वाले एक साथी की तरह व्यवहार करना चाहिए न कि वह अपने मत को छात्र पर थोपने वाला हो। मूल्य स्पष्टीकरण उपागम में छात्र समूह चर्चा के आधार पर स्वयं के लिए निर्धारित मूल्य की समीक्षा करता है।

**(2) कोहलबर्ग प्रतिमान—**कोहलबर्ग प्रतिमान नैतिक विकास के लिए एक रूपरेखा प्रस्तुत करता है जो कि छह प्रमुख चरणों में विभक्त है जिसके ऊपरी अवस्थाएँ अच्छी अवस्थाएँ मानी जाती हैं तथा निचली अवस्थाएँ निम्न कोटि की मानी जाती हैं। इस उपागम के विभिन्न सामायिक मुद्दों पर चर्चा कर नैतिक विकास की ओर छात्रों को उन्मुख किया जाता है तथा विभिन्न काल्पनिक चरित्रों एवं कथानकों की सहायता से नैतिक विभ्रम परिचर्चा के द्वारा नैतिक विकास का प्रयास किया जाता है।

**(3) चारित्रिक शिक्षा कार्यक्रम—** यह कार्यक्रम छात्रों में आचरण सम्बंधी सद्प्रवृत्तियों के विकास



से सम्बंधित है, जिससे ईमानदारी, कठिन कार्य करने की क्षमता, आज्ञापालन, उदारता, देशभक्ति, उत्तरदायित्व की भावना आदि सदगुणों के विकास के लिए शिक्षक स्वयं को एक मॉडल रूप में प्रस्तुत कर छात्रों को चारित्रिक विकास की प्रेरणा देता है।

**(4) मूल्य विश्लेषण—** मूल्य विश्लेषण, मूल्य स्पष्टीकरण की एक आंशिक पुनर्संरचना है जो कि एक व्वस्थित क्रम में प्रस्तुत की जाती है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी विभिन्न नैतिक स्थितियों के पक्ष एवं विपक्ष में 'वाद विवाद' विधि के द्वारा तर्कसंगत दृष्टिकोण प्रस्तुत कर मूल्यों का विश्लेषण करते हैं जिसके आधार पर मूल्य सम्बंधी निर्णय लेते हैं।

**(5) मूल्य अनुरूपण—** मूल्य अनुरूपण इस सिद्धान्त पर कार्य करता है कि मूल्य हमेशा उपस्थित होते हैं। मूल्य अनुरूपण के दौरान शिक्षक द्वारा विभिन्न नैतिक परिस्थितियों को छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रक्रिया में विद्यार्थीगण अप्रभावी रूप में व्यवहार न करके स्वयं के लिए आवश्यक मूल्यों का निर्धारण अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर करते हैं।

मूल्य शिक्षा के उपरोक्त उपागमों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छात्रों में मूल्यों के विकास में विद्यालय की प्रमुख भूमिका होती है। विद्यालय के अतिरिक्त छात्र अपने वातावरण से भी बहुत से मूल्यों को आत्मसात करता है। छात्र उन्हीं मूल्यों को आत्मसात करता है जिन्हें वह स्वयं के कसौटी पर कसकर खरा समझता हो। छात्र अपने माता-पिता के व्यवहार को अवलोकन कर उन्हीं मूल्यों को आत्मसात करने का प्रयास करता है जिनके साथ वह अपना सामन्जस्य बिठा पाता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता कि छात्रों में मूल्य संवर्धन हेतु मूल्य शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान

है। यदि मूल्यों को उपदेश के रूप में छात्रों को न देकर बल्कि उन्हें दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में इन मूल्यों के अवलोकन के अवसर प्रदान किये जायें तो छात्र न केवल उन मूल्यों को आत्मसात करेंगे बल्कि उन्हें अपने जीवन में भी उतारेंगे। यह भी सत्य है कि यदि अभिभावक व शिक्षक अपने व्यक्तिगत एवं व्यवसायिक जीवन में ईमानदार एवं कर्तव्यपरायण हैं तो छात्र उनके व्यवहार को देखकर अपने जीवन को उन मूल्यों से सुसज्जित कर बेहतर समाज के निर्माण में अपना योगदान दे सकते हैं।

आज हम 21वीं सदी में जी रहे हैं, किन्तु दुर्भाग्य है कि आज भी देश के लगभग छः करोड़ बच्चे अशिक्षित हैं। अनुमानतः 2012 तक विश्व की 25 प्रतिशत श्रमशक्ति भारत में होगी यदि शिक्षा एवं नैतिकता का स्तर इसी प्रकार गिरता रहा तो राष्ट्र उन्नति के पथ पर किस प्रकार अग्रसर हो सकेगा? अतः देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि मानव-मूल्यों एवं आदर्शों का विकास किया जाय तभी भारत आर्थिक एवं सांस्कृतिक महाशक्ति बनकर विश्व पटल पर उभरेगा। ♦

*'हम धर्म को चरित्र-निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं, जो मनुष्य को उच्च कोटि की निःस्वार्थ सेवा की ओर प्रवृत्त करती है। अतएव हम लोग विद्यार्थियों को दोनों ही प्रकार की शिक्षा से प्रभावित करते हैं।'*

○ मालवीय जी



## नारी की जीवन मूल्य दृष्टि के भारतीय प्रतिमान

सुश्री रिकी कुमारी

किसी भी समाज या देश के विकास का प्रतिमान वहां की महिलाओं की स्थिति ही स्पष्ट करता है। नारी को मानवता की धुरी कहा और समझा जाता है। वह मानव-मूल्यों की संवाहिका भी है तो मानवीयता का गौरव भी। वास्तव में भारतीय समाज में नारी का महत्त्व हमेशा से ही सर्वोपरि रहा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारी का चित्रण अनेक माध्यमों से प्रकट होता है जो कि उसकी विविधात्मक स्वरूपों का बोध कराता है। महादेवी वर्मा का यह कथन भारतीय नारी के संदर्भ में नितांत सार्थक तथा प्रासंगिक लगता है —

“भारत की सामान्य नारी शिक्षित न होकर भी सुसंस्कृत है, जीवन-मूल्यों से उसका परिचय अक्षरों द्वारा न होकर अनुभवों द्वारा हुआ है। अतः उसके संस्कार समय के साथ गहराते गए। परिणामतः आज की नीति, धर्म, दर्शन, आचार, कर्तव्य आदि का एक सहज बोध रखने के कारण भारत की अशिक्षित नारी, शिक्षित नारी की अपेक्षा घरती के अधिक निकट और जीवन संग्राम में ठहरने के लिए अधिक समर्थ है।”

जहां नारी को दैवीय स्वरूप में प्रस्तुत करके उसे शक्ति (काली), ज्ञान (सरस्वती) तथा समृद्धि (लक्ष्मी) के रूप में उपासित माना गया है, वहीं दूसरी ओर नारी को मोक्ष व परमात्मा के साक्षात्कार में प्रमुख बाधक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस छवि में उसे भोग्या के रूप में प्रस्तुत कर उस पर अधिकार एवं नियंत्रण की सीमा-रेखाओं से बांधा गया है। ऐतिहासिक संदर्भ में एक ओर उसे वीरांगना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां वह साहस, अदम्य शक्ति व शौर्य की धनी है एवं

युद्ध संचालन की क्षमता रखते हुए शत्रु का विनाश करने के लिए कटिबद्ध है, तो दूसरी ओर उसे क्षमाशील, कोमल, चंचल, कमजोर व लज्जाशील माना गया है। धर्म एवं अध्यात्म में यदि वह पत्नी बन कर उपस्थित रही है तो सहिष्णुता एवं ग्रहण करने की दृष्टि से वह पृथ्वी रूपा दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त नारी के मातृत्व का आदर्शोन्मुखी प्रस्तुतीकरण भारतीय परम्परा का विशिष्ट प्रतिमान रहा है। स्नेह, मातृत्व एवं स्निग्धता में वह मां दिखाई देती है, तो दूसरी ओर वेदना एवं एकांतता को बांटने में वह मित्र-सखा और प्रेमिका दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति समाज में नारी-रूपा शक्ति के बिना शिव को भी ‘शव’ कहा गया है। यह विचार भारतीय संस्कृति-समाज में नारी की गौरवपूर्ण स्थिति का द्योतक है। वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि तदयुगीन जीवन और समाज में नारी का स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व रहा है। नारी ने बौद्ध युग के इतिहास को अपनी विद्या और बुद्धि, विद्वता और त्याग से चार-चाँद लगाये। किन्तु बौद्ध संस्कृति के अवसान के साथ-साथ नारी की कीर्ति भी फीकी पड़ गयी और लगभग लोग यह भूल गये कि भारत में भी कभी नारी का सर्वांगीण सामाजिक जीवन था। सदियों तक नारी दमघोटू रूढ़ि और परम्परा के नीचे दबी पड़ी रही। परन्तु 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के साथ ही समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ और युगों की पुरानी रूढ़ियों के तुच्छ जीवन के कठोर बन्धनों से ऊपर उठकर करोड़ों पीड़ित आत्माओं को एक मर्यादित और आत्म-सम्मानित जीवन मिला। भारतीय समाज सुधारक-राजाराम मोहनराय, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद

सरस्वती, महात्मा ज्योतिराव फूले, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, विनोबा भावे व अन्य के प्रयास स्वरूप भारतीय नारी ने नवीन जीवन—मूल्य दृष्टि अपनायी। भारतीय जीवन की नयी धारा के साथ ही भारतीय नारी अपने परदे को फेंककर और रूढ़िगत बन्धनों को तोड़कर इस नवीन जागृति में योगदान देने के लिए खड़ी हो गयी।

भारतीय इतिहास में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं सदी के प्रारम्भ में सामाजिक पुनर्जागरण, नारी जागरण और राजनीतिक चेतना का विकास साथ-साथ हुआ, जिसमें नारी को समाज की अज्ञानता, गरीबी, शोषण, दासता, और अपने प्राचीन रूढ़ियों से एक साथ लड़ाई करनी पड़ी। भारतीय नारी प्रस्थिति निर्माण में पितृसत्तात्मक समाज का प्रभाव रहा है। पुरुष की शक्ति व सत्ता को इस व्यवस्था ने प्रबल किया है और नारी की प्रस्थिति को निर्बल बनाकर उसकी अबला की छवि व स्थिति का निर्माण किया है। नारी के शरीर के कुछ ऐसे आयाम हैं जिनका सांस्कृतिक अर्थ निर्मित करके पित्र-तंत्र ने दोहरे नैतिक मूल्यों की स्थापना की है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा इस दोहरे मूल्य का पुरजोर विरोध करके स्त्री-पुरुष के बीच एक आध्यात्मिक संबंध की स्थापना की गई है। गांधी द्वारा स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे का पूरक मानकर एक नवीन जीवन मूल्यों को अपनाया गया है। उनके अनुसार —

*“यदि स्त्रियां यह भूल जायं कि वे पुरुषों के भोग-विलास की वस्तु हैं और यदि वे अपने अन्दर के अपार प्रेम के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता पर छा जायें तो फिर वे मातृ, धातृ एवं निर्मातृ रूप धारण कर सकती हैं”*

भारतीय नारी भी जिस दिन अपने सम्पूर्ण प्राणप्रवेग से जाग सकेगी, उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं होगा। आज भी;

‘तमसो मां ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मांमृतंगमय’ आदि प्रवचनों से ज्ञात होता है कि गृह की वस्तुमात्र समझी जानेवाली स्त्री ने कभी जीवन को कितनी गम्भीरतामयी दार्शनिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया था। शायद आधुनिक समाज की नारी अपनी आत्मिक-शक्ति को विकसित नहीं कर पा रही है। इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियां मिलेंगी — एक— वे जिन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है कि वे भी एक विस्तृत मानव-समुदाय की सदस्य हैं और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष सम्भव है। दूसरी— वे जो पुरुषों की समानता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ओर अर्थ-हीन अनुसरण है तो दूसरी ओर अनर्थमय अनुकरण और यह दोनों प्रयत्न समाज की शृंखला को शिथिल तथा व्यक्तिगत बन्धनों को सुदृढ़ और संकुचित करते जा रहे हैं। इस प्रकार नारी का स्वतंत्र विवेकमय व्यक्तित्व का विकास ही नहीं हो सका है या यह कहा जा सकता है कि उसकी (नारी) प्रत्येक भावना, चरित्र, कार्य में पुरुष की भावना, और कार्य की प्रतिकृति नजर आती है। इस प्रकार उसने पुरुष उन्मुख जीवन मूल्यों को ग्रहण कर लिया है। नारी मात्र में आत्मबल की प्रतिष्ठा आधुनिक समय की सबसे बड़ी मांग है। नारी के भीतर का यही आत्मबल उसके आन्तरिक व्यक्तित्व की पूंजी है। समृद्ध आन्तरिक व्यक्तित्व की स्वामिनी बनने वाली नारी के लिए समता पाने हेतु अरण्यरोदन की जरूरत खुद-ब-खुद समाप्त हो जाएगी। इसके लिए नारी को सर्वप्रथम अपने को बौद्धिकरूप से समृद्ध करना होगा, क्योंकि ज्ञान सबसे बड़ी शक्ति है। ज्ञान की शक्ति की बदौलत



नारी मात्र के लिए अद्यतन बंद देश दुनिया के कपाट सहज ही खुल जायेंगे। वह अपने ज्ञान से समाज की नियति बनेगी, उसमें आर्थिक स्वावलंबन आएगा और उसकी परजीविता समाप्त होगी। किन्तु यह सब कुछ न तो मांगने से और न तो धृष्टतापूर्वक छीनने से प्राप्त होगा, बल्कि यह बौद्धिक क्षमता, आन्तरिक बल और आन्तरिक व्यक्तित्व के उत्थान से होगा।

आधुनिक युग में शिक्षा के परिणामस्वरूप नये व्यवसायों में नारी का प्रवेश हुआ है। डॉक्टर, अध्यापिका, नर्स, विमान परिचालिका, सेल्स गर्ल के विशिष्ट व्यवसायों से हटकर शनैः-शनैः नारी ने नए व परम्परागत पुरुष एकाधिकार वाले व्यवसायों को भी अंगीकार किया, जिससे उसमें आत्म-विश्वास बढ़ा। घर के बाहर का यथार्थ उसे स्व-अनुभव रूपेण प्राप्त हुआ है। नारी अब यह तर्क व अनुभव के आधार पर समझ गयी है कि आधुनिक युग के उन सभी कार्यों को नारी उसी गुणवत्ता से सम्पन्न कर सकती है जिसे की पुरुष करता रहा है। परन्तु भारतीय पुरुष की मानसिकता में इन परिवर्तित परिस्थितियों में, गृहकार्य में योगदान का मान्य व समाज स्वीकृत पक्ष प्रत्यक्ष रूप से अथवा संस्कृति आधार पर अभी तक निर्मित नहीं हुआ है। सामंजस्य व समझौते की परिस्थितियों में प्रायः नारी को स्व की बलि देनी पड़ती है। नारी के संदर्भ में मूल्यों व प्रतिमानों का एक ऐसा स्वरूप उभर करके आया है जिसे परम्पराओं का आधुनिकीकरण कहा जा सकता है। इसलिए एक नौकरीपेशी नारी को बाहर के साथ गृह के देख-भाल और सन्तान के पालन-पोषण का आवश्यक और परम दायित्व भी निभाना पड़ता है। आज भी समाचार-पत्रों में छपने वाले विज्ञापनों में योग्य जीवन साथी के गुणों के विवरण में पुरुष के लिए शिक्षा, व्यवसाय की प्रकृति व आय प्रस्तुत किये जाते हैं और महिलाओं के लिए गौरवर्ण,

सौन्दर्य व स्वभाव के गुण। पुरुष का जीवन संघर्ष से आरम्भ होता है तो नारी का आत्मसमर्पण से। जो बन्धन पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के लिए इतने शिथिल होते हैं कि उन्हें बन्धन का अनुभव ही नहीं होता वे ही बन्धन स्त्रियों को परावलम्बिनी दासता में इस प्रकार कस देते हैं कि उसकी सारी जीवनी शक्ति शुष्क और जीवन नीरस हो जाता है। उदाहरण स्वरूप एक विधवा स्त्री का जीवन एक पुरुष के बिना कोई उपयोगी ही नहीं रह जाता है, न समाज या गृह में उसको कहीं निश्चित स्थान ही मिल सकता है। जब जला सकते थे अर्थात् सती-प्रथा के प्रचलन के समय तब इच्छा या अनिच्छा से उसे जीवित ही भस्म करके स्वर्ग में पति के विनोदार्थ भेज देते थे। परन्तु अब उसे मृत पति का ऐसा निर्जीव स्मारक बनकर जीना पड़ता है जिसके सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक होना तो दूर रहा कोई उसे मलिन करने की इच्छा भी रोकना नहीं चाहता। समाज में नारी की स्थिति युगों से ऐसी चली आ रही है। उसके चारों ओर संस्कारों का ऐसा क्रूर पहरा रहा है कि उसके अन्तरतम जीवन की भावनाओं का परिचय पाना ही कठिन हो जाता है।

मानव-जाति की संरचना में स्त्री और पुरुष दोनों में भिन्नता पायी जाती है। पुरुष को यदि ऐसे वृक्ष की उपमा दी जाए, जो अपने चारों ओर के छोटे-छोटे पौधों का जीवन-रस चूस-चूस कर आकाश की ओर बढ़ता जाता है तो स्त्री को ऐसी लता कहना होगा, जो पृथ्वी से बहुत थोड़ा-सा स्थान लेकर, अपनी सघनता में बहुत से अंकुरों को पनपाती हुई उस वृक्ष की विशालता को चारों ओर से ढक लेती है। बदलती हुई परिस्थितियों के बावजूद भी पुरुष अपने को अधिक से अधिक स्वच्छन्द और स्त्री को कठोर बंधन में ही देखना चाहता है। समाज की इसी विचारधारा को बदलने की आवश्यकता है। नारी शक्ति कोई छोटी-मोटी

चीज नहीं है। वह विश्व की सर्जक है। पूरे परिवार और समाज के पालन-पोषण, विकास और सतत साज-संभार में उसकी भूमिका पुरुष से कहीं ज्यादा अहम् है, ज्यादा बड़ी है। इटली के प्रसिद्ध कवि गेटे ने अपने फॉस्ट (faust) नामक काव्य में कहा है — “The eternal feminism draws us upward” अर्थात् शाश्वत नारीत्व (दैवी शक्ति रूपी नारी) हमें सामान्य स्तर से उठाकर ऊँचाई की ओर ले जाती है। नारी के बिना पुरुष निरा पशु है। नारी ही उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाती है। एक जंगली, हिंसक, आक्रामक जानवर से उसे, सुसंस्कृत सामाजिक और पारिवारिक बनाती है। सृष्टि की संरचना में भी नारी पुरुष के साथ बराबर की भागीदार है। नारी अपने लज्जाशीलता, मधुरिमा, सौन्दर्य, रूप छवि, मादकता और मातृत्व से विश्व-चेतना की पर्याय बन जाती है और यही चेतना सभ्यता तथा संस्कृति के समस्त विकास के मूल में है। नारी चेतना ही विश्व को निर्माण और शांति की दिशा में ले जा सकती है। यही चेतना अपने मातृत्व में चरम विकास को प्राप्त करके पुरुष के सौन्दर्य बोध की पिपासा को शांत कर सकती है। नारी शक्ति ही आदिम चेतना है।

विडम्बना यह है कि अपनी आत्म चेतना की आवाज सुनने की अपेक्षा हमारे देश में अधिकतर महिलायें अपनी सोच को इस तरह ढाल लेती हैं कि, जिसमें वे स्त्रीत्व के अनेक पहलुओं के लिए खुद को हीन मान लेती हैं। वे पुरुषों को अपने आप से शक्तिशाली एवं महान समझती हैं। यही उनमें आत्मविश्वास की कमी का प्रमुख कारण है। आज जरूरत इस बात की है कि महिलाएं इस पूर्वाग्रह से ऊपर उठकर स्वयं को यह विश्वास दिलाएं कि प्रकृति ने उन्हें कुछ अलग तरह की शारीरिक और मानसिक क्षमताएं दी हैं, जो पुरुषों की क्षमता से किसी भी तरह से कम नहीं है।

आत्मविश्वास का अर्थ है खुद पर भरोसा। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद देश की प्रगति में एक विशेष वर्ग की महिलाओं ने अपने आत्मविश्वास के बल पर महत्वपूर्ण योगदान दिया है किन्तु महिलाओं का एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है, जिनमें शिक्षित होते हुए भी आत्मविश्वास की बेहद कमी दिखती है, जिसके कारण वे अपने गुणों का पूरा उपयोग करने में, जीवन की सारी खुशियां बटोर पाने में असफल रह जाती हैं।

यदि आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति की चर्चा की जाए, तो यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इसमें भारतीय नारी की दिनचर्या अत्यधिक प्रभावित है, इसमें मीडिया की सबसे बड़ी भूमिका है। आज विज्ञापन समाज की सोच, वातावरण, रहन-सहन, तौर-तरीकों एवं रीति-रिवाजों को प्रभावित कर रहे हैं। विज्ञापनों की महिला मॉडल युवा वर्ग की आदर्श बन रही हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पत्र-पत्रिकाओं के रंगीन पृष्ठ भरे जा रहे हैं। इन विज्ञापनों वाली मॉडलों के हाव-भाव, रहन-सहन एवं जीवन शैली को अपनाकर युवतियां स्वयं को ‘आधुनिक’ समझ रही हैं। एक संतुलित, सम्यक् और सामंजस्यपूर्ण वातावरण बनाने के बजाय मीडिया इसमें आग में घी का कार्य करके समाज को विमुख कर रहा है। सिर्फ अधिक आय के लिए उघाड़ू विज्ञापन और दृश्य परोसे जाते हैं। वह समूचे समाज को विकृत मानसिकता की ओर ही ले जा रहे हैं। एक सम्यक् एवं संतुलित दृष्टिकोण ही नारी की छवि को मीडिया में प्रतिष्ठापित करा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि मीडिया में कार्यरत सभी महिलाएं स्वयं की आन्तरिक शक्ति जागृत कर समाज को एक नई दिशा देने की भूमिका निभायें।

आज विकास की गति ने जो रूप धारण



किया है उसमें किसी भी देश अथवा समाज का विकास बिना नारियों की भागीदारी के असम्भव है और यह तभी सम्भव है जब उनके लिए शोषण एवं अत्याचार मुक्त स्वच्छ और स्वतंत्र वातावरण का निर्माण किया जाए। नारियों को शोषण मुक्त करने के लिए कोई बड़ी योजना की जरूरत नहीं है। जरूरत है सामाजिक सोच में परिवर्तन एवं पुरुषों के अहंकार से मानवता की दिशा में अग्रसर होने की। नारियों के विरुद्ध हो रहे शोषण को कानून-मात्र के माध्यम से नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए जन-चेतना को विस्तारित करने तथा मानवीय नैतिकता को सफल आधार प्रदान करने की आवश्यकता है। नर और नारी गाड़ी के दो पहिए हैं और गाड़ी की सुचालकता एवं दीर्घकालीन क्षमता दोनों पहियों के साथ मिलकर चलने में ही निहित है। राममनोहर लोहिया की मानें तो किसी भी राष्ट्र की सफलता के लिए नर-नारी के बीच समानता जरूरी है। शायद हम चाहते हुए भी इस बात को भारतीय समाज में अपना नहीं पाये हैं। पर समस्या यह है कि आज भी बेटों को लेकर भारतीय समाज का मोह खत्म नहीं हुआ। सरकारी-गैर सरकारी संस्थाओं के तमाम प्रयासों के बावजूद भी भ्रूण हत्या पर रोक नहीं लग सकी है। महिलाएं सही मायने में स्वतंत्र तभी हो पायेंगी, जब समता, शिक्षा और स्वावलम्बन के साथ-साथ उन्हें घर और समाज में निर्णयात्मक भूमिका मिले। इस प्रकार के जीवन-मूल्यों को अपनाने के लिए हमको सामाजिक-चेतना जागृत करनी होगी। नारी के प्रति सहज सम्मान प्रदाय दिशा में सच्चे मन से नारी की गरिमा, महत्त्व व अपरिहार्यता को सामाजिक जीवन में स्वीकार करना होगा, तभी नारी के प्रति होने वाले अन्याय को प्रतिबन्धित किया जा सकता है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा है कि समाज सुधार करना है तो अपने से करो। यह

बहुत सारगर्भित दिशा निर्देश है। नारी से सम्बन्धित गांधीय चिंतन उदार और प्रगतिशील दृष्टिकोण का द्योतक है। नारी सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए आज से 60 या 70 वर्ष पूर्व उन्होंने जो सुझाव दिये थे वे आज भी पूर्णतः सार्थक और मान्य हैं। आवश्यकता है गांधी के व्यावहारिक, यथार्थवादी और प्रगतिशील दृष्टिकोण को समझकर अपनाने की। महात्मा गांधी ने नारी को वाह्य और कृत्रिम सौन्दर्य का त्याग करके आन्तरिक सौन्दर्य को विकसित करने की हिदायत दी है। सौन्दर्य चरित्र में निहित है, न कि जेवरों और पोशाकों में, जो आन्तरिक सौन्दर्य का वाह्य प्रस्फुटन नहीं होने देते हैं। आन्तरिक सौन्दर्य का विकसित करके स्त्री मानवता को अपने वश में कर सकती है। इस प्रकार नारी गांधी के विचारों को आत्मसात करके परम्परागत जीवन मूल्यों के प्रतिमानों से आगे बढ़कर मानव जाति का उद्धार कर सकती है। नारी शिक्षा एक आवश्यक माध्यम है जिससे वह इतनी सक्षम और सक्रिय बन सकती है कि अपेक्षित कर्तव्यों का निर्वाह आसानी से कर सके। स्वामी विवेकानंद का सुझाव है कि भारत की स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्यों को भलीभांति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई और मीराबाई आदि भारत की महान विदुषियों द्वारा चलायी गयी परम्परा को आगे बढ़ा सकें एवं वीरप्रसू बन सकें।

भारतीय समाज में माँ को 'प्रथम गुरु' का दर्जा दिया जाता रहा है। यदि प्रथम गुरु शिक्षित हो तो पूरे गुरुकुल (परिवार) को आसानी से शिक्षित किया जा सकता है। शिक्षा प्राप्ति के समान अधिकारों के अवसरों से लाभान्वित होते हुए नारी चेतना का कपाट खुलता है। उसे अपने स्वत्व का बोध होता है और अधिकारों का मान होता है। इसके साथ ही शिक्षा द्वारा नारी जीवन के प्रत्येक



क्षेत्र में पुरुषों के समान ही क्रियाशील होकर अपनी सभी प्रकार की क्षमताओं का अद्भुत परिचय दे सकती है या यूँ कहें कि आधुनिक समय में दे रही है। इन्दिरा गांधी, विजयलक्ष्मी पंडित, कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स, सरोजिनी नायडू, पी०टी० ऊषा, सानिया मिर्जा, बछेन्द्री पाल, किरण बेदी व अन्य कुछ ऐसे ही नाम हैं जो आत्मनिर्भर होकर अपने पैरों पर खड़ी हुईं। उनके व्यक्तित्व में गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है। उनके व्यक्तित्व में आए इस परिवर्तन के मूल में 'शिक्षा' का उल्लेखनीय योगदान है। वे शिक्षा के प्रचार-प्रसार के जरिए समाज को एक नई शक्ति प्रदान कर रही हैं। इसलिए यह कहना समीचीन होगा कि यदि देश-समाज को विकास के शिखर तक ले जाना है, विश्व के तेजी से हो रहे विकास के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना है तो महिलाओं को अधिकाधिक शिक्षित करके उनकी सहभागिता को और अधिक बढ़ाना होगा। शिक्षा ही मनुष्य के बौद्धिक, मानसिक, आत्मिक और सर्वांगीण विकास के लिए महत्ती आवश्यकता है। यह प्रगति-विकास नारी की उपस्थिति के बिना अधूरी है, क्योंकि 'मनुष्य' नाम की अवधारणा पुरुष के साथ-साथ नारी से भी सम्बद्ध है। निःसंदेह शिक्षा नारी उत्थान की वह कड़ी है जिससे देश-समाज और मानवता की वास्तविक प्रगति और विकास जुड़ा हुआ है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि अब यह नारी को तय करना है कि वह किस प्रकार के जीवन मूल्यों को अपनाकर अपना सर्वांगीण विकास करेगी। वह इतिहास से उन जीवन मूल्यों को ग्रहण करेगी, जिससे उसका स्वच्छ विकास हो सके या उन आधुनिक कृत्रिम जीवन-मूल्यों को जो समूचे समाज को विकृत्र मानसिकता की ओर ले जा रहे हैं। ♦

पृष्ठ 39 का शेष भाग

योग्यता, सामर्थ्य और सीमा के उचित मूल्यांकन के

बाद ही क्षेत्र-विशेष या व्यावसायिक क्षेत्र में प्रवेश दिया जावे।

5. 16 वर्ष के प्रत्येक बालक के लिए दो वर्ष की सैनिक-सेवा अनिवार्य हो।

6. 16 वर्ष की बालिकाओं (+1, +2 में) के प्रत्येक पाठ्य-क्रम में एक पत्र गृह विज्ञान (व्यवस्था) का आवश्यक हो।

7. सभी अध्यापक-प्रशिक्षण पाठ्य-क्रमों में तथा अध्यापकों के लिए मानव-मूल्यों का कम से कम एक पत्र अनिवार्य हो।

8. 16 वर्ष तक सम्पूर्ण शिक्षा मातृ-भाषा में हो। 10 वर्ष की आयु के बाद राष्ट्र भाषा का पढ़ना अनिवार्य हो। संस्कृत को भी पाठ्य-क्रम में आवश्यक महत्व दिया जावे।

9. मुक्त विद्यालय प्रत्येक प्रांत में कम से कम एक एवं आवश्यकतानुसार अधिक हों, जिनमें 14 वर्ष की आयु से पहले सामान्य विद्यालय छोड़ने वाले सभी विद्यार्थियों को प्रश्रय दिया जा सके।

10. प्रत्येक प्रांत 16 वर्ष के बालक/बालिका का विकसित आदर्श व्यक्तित्व (देह, मन, बुद्धि, हृदय, आत्मा और सामाजिक व्यवहार) क्या होगा—

इसका लगभग 20 पृष्ठों में लिखित रूप प्रस्तुत कर के प्रत्येक मुख्याध्यापक को दे, ताकि वे 5 वर्ष के विद्यालय में प्रवेशार्थी बालक के माँ-बाप को भी वह पुस्तिका दें और वे सब मिलकर 10 वर्ष प्रयत्न कर वैसा बालक/बालिका बनाने का यत्न करें। ♦

## मालवीय जी के सैद्धान्तिक एवं राजनैतिक विचार

श्री आनन्द कुमार कर्ण

पण्डित मदन मोहन मालवीय आधुनिक भारत के सर्वाधिक महत्त्वशाली विभूतियों में एक थे। वे एक महान् वक्ता थे और संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों ही भाषाओं में समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। वे एक महान सामाजिक तथा राजनीतिक नेता थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व का आधुनिक भारत की राजनीति, समाज, शिक्षा तथा संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। मालवीय जी का जन्म 25 दिसम्बर 1861 को और देहावसान 12 नवम्बर 1946 को हुआ। 1884 में उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों तक उन्होंने 'हिन्दुस्तान' हिन्दी दैनिक का सम्पादन किया। कुछ समय तक वे 'द इण्डियन यूनियन' पत्र के भी सम्पादक रहे थे। उन्होंने 'अभ्युदय' नामक एक हिन्दी साप्ताहिक की भी स्थापना की थी। 1880 में मुख्यतः 'उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप इलाहाबाद में 'हिन्दू समाज' नामक संस्था की स्थापना हुई। उनके राजनीतिक भाषणों में हमें आवेश शून्य तर्कणा तथा प्रतीति करने की उद्भुत शक्ति देखने को मिलती है। उन्होंने अपने आकर्षक व्यक्तित्व के द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। महात्मा गाँधी उन्हें अपना बड़ा भाई तथा भारतीय मुक्ति संग्राम में योग्य साथी और सहयोगी मानते थे तथा उसी रूप में उनका आदर करते थे। मालवीय जी के व्यक्तित्व में गहरी निष्ठा, आत्मत्याग तथा सरलता विद्यमान थी, जिसके कारण वे महान प्रेम तथा श्रद्धा के केन्द्र बन गये थे।

मालवीय जी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सबसे प्रारम्भिक नेताओं में थे। उस संस्था के साथ उनका सम्बन्ध 1886 से ही चला आया था। सामान्यतः उनकी गणना फीरोजशाह और गोखले की मण्डली में की जाती थी, यद्यपि उन्हें तिलक के विचारों से

भी सहानुभूति थी। वे 1909 में लाहौर तथा 1918 में दिल्ली में कांग्रेस के सभापति चुने गये थे। विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति मालवीय जी को भी हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। वे राष्ट्रवाद की किसी ऐसी धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे जो हिन्दू धर्म के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होती। किन्तु मालवीय जी का हृदय विशाल तथा उदार था, अली बन्धुओं तक ने उनकी राजनीतिक कार्यप्रणाली की उदारता को स्वीकार किया था। वे इस पक्ष में नहीं थे कि देश में हिन्दुओं का अधिपत्य हो। उनकी दृष्टि में सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद की आवश्यकता यह थी कि जनता के सभी वर्गों के कल्याण और हितों का संवर्द्धन किया जाय। वे कहा करते थे कि 'सब सम्प्रदायों के लोगों को एक महान राष्ट्र के रूप में संयुक्त करने के लिए आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओं का परिवर्द्धन किया जाय।

जीवन के प्रति मालवीय जी का दृष्टिकोण धार्मिक था। उन्हें धर्म की जीवन दायिनी शक्तियों में हार्दिक विश्वास था। उनका कहना था कि धार्मिक नियमों, यमों और व्रतों का पालन करने से जो नैतिक प्रगति होती है वह भौतिक समृद्धि से अधिक सारयुक्त है। वे कर्तव्य परायणता, भक्ति तथा समर्पण की धार्मिक भावनाओं को राष्ट्रीय महानता का साधन मानते थे। नैतिक मूल्यों की पवित्रता तथा आवश्यकता को उन्होंने गम्भीरता से हृदयंगम कर लिया था। वे महाभारत के इस उपदेश के अनुयायी थे कि स्थायी विजय धर्म के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया।

मालवीय जी को स्वतन्त्रता तथा संवैधानिक



कार्यप्रणाली में विश्वास था। उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया कि शिक्षित भारतवासियों द्वारा जो स्वराज की माँग की जा रही थी वह अंग्रेजी साहित्य तथा ब्रिटेन के लोकतान्त्रिक दर्शन का प्रत्यक्ष परिणाम थी। 1887 के काँग्रेस अधिवेशन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था : 'जब हम यह माँग करते हैं कि राज्य की परिषदों में जनता के प्रतिनिधि जायें तो हम केवल उसी चीज की माँग कर रहे हैं जिसे यूरोप ही नहीं, अपितु अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा लगभग सम्पूर्ण जगत में एक स्वर से किसी देश के सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक घोषित किया; क्योंकि जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासन में भाग लेने दिया जाता है वहीं जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं और शिकायतों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है एवं सही ढंग से समझा और पूरा किया जा सकता है।' प्रशासकों के उद्देश्य कितने ही उदार एवं कल्याणकारी क्यों न हों फिर भी परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। मालवीय जी अंग्रेज प्रशासकों को इस बात का स्मरण दिलाना चाहते थे कि वास्तव में उनके कर्तव्य और उद्देश्य का तकाजा क्या था? 1891 की काँग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने कहा था; हम अंग्रेजों से जो हमारे बन्धु-बान्धव हैं यह अपील करते हैं कि वे इस देश के प्रशासन को बुद्धि, न्याय तथा सामान्य समझबूझ के अनुकूल बनायें, उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुरूप ढालें जिन पर उन्हें सदैव गर्व रहा है और जिनके कारण वे संसार में इस उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सफल हुए हैं। मालवीय जी ने 1919 में भारतीय विधान परिषद में रौलट विधेयक को पारित करने के विरुद्ध जो ऐतिहासिक भाषण दिया उससे स्पष्ट है कि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक और पोषक थे।

तिलक की भाँति मालवीय जी भी उस गम्भीर और व्यापक राजनीतिक हलचल से भली-भाँति

अवगत थे जो रूस, जापान युद्ध के बाद समस्त एशिया में उत्पन्न हो गयी थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर इस बात के लिए जोर डाला कि वह समय की गति को समझे और उससे सबक सीखे। उन्होंने कहा; 'इस देश की सरकार तथा जनता दोनों का हित इसी में है कि सरकार इस बात को समझ ले कि समय बदल गया है और जनता के मन पर एक नयी भावना ने आधिपत्य जमा लिया है।..... जापान कुछ वर्ष पहले तक अनेक चीजों में भारत से भी अधिक पिछड़ा हुआ था, लेकिन अब विश्व के राष्ट्रों के बीच प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। चीन भी अपना प्रमाद और निष्क्रियता त्याग कर उठ बैठा है। ईरान अपनी दीर्घ निद्रा से जाग गया है..... क्या भारतवासियों के लिए उन अधिकारों और शक्तियों की माँग करना पाप है जिसका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में बसने वाले हमारे साथी प्रजाजन कर रहे हैं? यदि यह पाप नहीं है तो क्या इसकी कल्पना की जा सकती है कि उनकी आकांक्षाएँ उनकी युक्ति संगत माँगों को उदारतापूर्वक स्वीकार किये बिना संतुष्ट की जा सकेगी? गलतफहमी से बचने और उभरते हुए लोकमत को सही दिशा में मोड़ने के लिए आवश्यक है कि वाइसराय तथा गर्वनरों की परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों को समुचित स्थान दिया जाय। भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा करना दो कारणों से अनिवार्य है। प्रथम रानी विक्टोरिया की घोषणा में इन अधिकारों का वचन दिया गया था। द्वितीय, भारतवासी 'इस धरती की संतान होने के नाते' इन अधिकारों के हकदार हैं। 1907-1910 में मालवीय जी दादाभाई नौरोजी से इस बात में सहमत थे कि स्वराज्य ही उन बुराइयों को दूर करने का मुख्य उपाय है जिनके शिकार भारतवासी दीर्घकाल से बने हुए हैं।

मालवीय जी ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। 1906 में कलकत्ता में अपने एक



भाषण में उन्होंने कहा था 'मैं इसको (स्वदेशी को) अपने देशवासियों के प्रति अपने धार्मिक कर्तव्य का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इसे मानव जाति का धर्म और हम सबका विशिष्ट धर्म मानता हूँ, मानव जाति के धर्म की माँग है कि आप यथा सामर्थ्य स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ावा दें। अपने किसी देशवासी द्वारा निर्मित वस्त्र को खरीदने में मुझे ऐसा लगा है और अभी लग रहा है कि मैं उसे जीवित रहने के लिए कम से कम एक और भोजन प्राप्त करने में सहायता दे रहा हूँ। हो सकता है कि सूत किसी बाहरी देश से आया हो किन्तु उसमें उसने अपना जो श्रम लगाया है उससे उसे लाभ का आधा, तिहाई अथवा कोई अंश अवश्य मिल जायेगा जिससे वह अपना और अपने आश्रितों का पेट भर सकेगा। जब आप देख रहे हैं कि आपके आसपास लोग इतना कष्ट भोग रहे हैं, देश का धन भारी राशि में बाहर जा रहा है, लोगों की आय इतनी कम और साधन इतने अल्प है तो मैं कहूँगा प्रत्येक उदार भावनाओं वाले व्यक्ति का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वह जहाँ-कहीं भी देश में निर्मित वस्तुएँ मिल सकें उन्हें विदेशी चीजों की तुलना में तरजीह देकर भारतीय उत्पादन को बढ़ावा दे, चाहे ऐसा करने में उसे कुछ त्याग भी करना पड़े। स्वदेशी ही देश के आर्थिक संकटों के निवारण का एक मात्र साधन है। इसके मूल में दुर्भावना अथवा घृणा नहीं है और न इसमें किसी प्रकार का राजनीतिक विद्वेष है। देश की दरिद्रता को कम करने तथा देशवासियों को रोजगार और भोजन देने के लिए स्वदेशी को अंगीकार करना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है।

मालवीय जी ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए एक व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि देश के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक साधनों का परिवर्द्धन करने के लिए राजनीतिक सुधारों के अन्दोलन के अतिरिक्त लोगों में लोक-सेवा

की भावना उत्पन्न करना भी नितान्त आवश्यक है। उनका विचार था कि देश के विकास के लिए शैक्षिक तथा औद्योगिक कार्यकलाप भी जरूरी हैं।<sup>11</sup> उन्होंने औद्योगिक आयोग (1916-18) के लिए जो स्मरण पत्र तैयार किया था उसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि देश में यथोचित आधार पर उद्योगों का विकास किया जाय। उनका विश्वास था कि उद्योगों के लिए आवश्यक पूँजी प्रयत्न करने पर देश में ही एकत्र की जा सकती है। मालवीय जी ने शारीरिक विकास के कार्यों पर भी बल दिया। वे चाहते थे कि देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण और प्रगति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। गुरु गोविन्द सिंह ने जिस भक्ति-भावना से अपना काम किया और अपने अनुयायियों के साथ जो समानता का व्यवहार किया उससे मालवीय जी बहुत प्रभावित थे। 1908 में लखनऊ में द्वितीय उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था: 'मैं आपसे हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे संगठनों का निर्माण करें जो वर्ष भर राजनीतिक कार्य चलाते रहें और सार्वजनिक हित की समस्याओं पर लोकमत को शिक्षित करने का प्रयत्न करते रहें। आप सफाई, शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के लिए संगठन बनायें और ऐसी संस्थाओं का निर्माण करें जो सहकारी आन्दोलन, पंच निर्णय और शारीरिक शिक्षा को प्रोत्साहन दें। अन्त में मैं आपसे यह स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ कि जनता को वास्तविक सुख केवल भौतिक लाभों से ही प्राप्त नहीं हो सकता और वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्त करने योग्य हैं, मनुष्य के प्रति उन शाश्वत कर्तव्यों का पालन करके उपलब्ध किये जा सकते हैं जो धर्म के लिए निर्धारित किये हैं। यदि हम धार्मिक कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते तो हम जो भी काम करेंगे उनमें हमारी रुचि स्थायी नहीं होगी।

मालवीय जी को ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास था और इसी आधार पर उन्होंने आग्रह किया कि भारत में सर्वत्र स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाना चाहिए। 1918 में दिल्ली काँग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था: 'मेरा निवेदन है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इस बात की माँग करने का संकल्प कर लें कि अपने देश में आपको भी अपने विकास कि वे सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए जो इंग्लैण्ड में अंग्रेजों को मिली हुई हैं। यदि आप इतना संकल्प कर लें और अपनी जनता में स्वतन्त्रता, समानता तथा मातृत्व के सिद्धान्तों को फैलाने का प्रयत्न करें तथा हर भाई को, चाहे उसकी स्थिति कितनी ही अकिंचन और निम्न क्यों न हो, यह अनुभव करने दें कि उसमें भी वही ईश्वरीय प्रकाश की किरण विद्यमान है जो उच्च स्थिति के व्यक्ति में विद्यमान है। और यदि आप हर भाई को इस बात की अनुभूति करा दें कि उसे भी अपने साथी प्रजाजनों के समान ही व्यवहार पाने का अधिकार है तो निश्चय समझिए कि आपने अपने भविष्य का निर्माण स्वयं कर लिया है, और जिनके हाथों में आज देश की शक्ति है वे आपकी उचित माँगों का विरोध करने में कभी सफल नहीं होंगे।

मालवीय जी उग्र लोकतन्त्रवादी नहीं थे। वे यह नहीं चाहते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में जनता सामूहिक रूप से उमड़ पड़े। अपने लाहौर काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने धर्म तथा अहिंसा की धारणाओं के आधार पर आतंकवादियों तथा हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भर्त्सना की। उनकी भावना मौन्तेस्क्यू और जैफर्बन के सदृश थी; वे उन उग्र और क्रान्तिकारी विचारकों से सहमत नहीं थे जो चाहते थे कि जनता को व्यापक रूप से राजनीति में भाग लेना चाहिए।

पण्डित मालवीय अपने समय के एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक नेता थे। वे बुद्धिमान राजनीतिज्ञ

तथा प्रकाण्ड विद्वान थे। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक भारत की महानता के संवर्द्धन के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उन्हें हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के शाश्वत मूल्यों में विश्वास था, और उनका यह विश्वास ही उनके जीवन तथा कार्य पद्धति का मुख्य आधार था। वे ईश्वर भीरु थे और धर्म के प्रति उनके मन में जन्मजात प्रेम था। किन्तु सांस्कृतिक पुरातनवाद के साथ-साथ उनका हृदय बहुत उदार था, और अपने विरोधियों का प्रेम तथा श्रद्धा प्राप्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। जब भारतीय राजनीति में गाँधी जी की सत्याग्रह-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ तो उस समय की महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मालवीय जी का सम्पर्क टूट गया। फिर भी वे मध्यस्थ का कार्य करते रहें। उन्हें न तो काँग्रेस की बढ़ती हुई उग्र भावना से सहानुभूति थी और न उनकी मुसलमानों के प्रति रियायत की नीति से। उनके प्रसिद्ध सार्वजनिक वक्तव्य में 1946 का वह वक्तव्य अन्तिम था जिसमें उन्होंने हिन्दूओं को देश की भयंकर रूप से विक्षुब्ध साम्प्रदायिक स्थिति में एक होने के लिए ललकारा था।

भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में मालवीय जी का मुख्य योगदान उनका व्यापक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है। स्टाइन, हार्डेनबुर्ग, गेटे और फिख्टे की भाँति मालवीय जी भी संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए उनके मन में गहरी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उन्हें देश की भावी प्रगति और सृजनात्मक शक्तियों में भी विश्वास था। वे शुद्ध भौतिकवादी अथवा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं कर सकते थे। वे हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मानते थे किन्तु साथ ही साथ वे देश के अन्य सम्प्रदायों के प्रति निरपेक्षतः उदार तथा न्यायोचित व्यवहार करने के पक्ष में थे। ♦



## बौद्ध मूल्य-मीमांसा

(जातकमाला के विशेष संन्दर्भ में)

श्रीमती सारिका मौर्य

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और समाज की चर्चित अवधारणा मूल्य है। इस अवधारणा पर विविध शास्त्रों यथा — धर्म, दर्शन, नीति आदि ने अलग-अलग दृष्टियों से विचार किया है। इन दृष्टियों में एक दृष्टि बौद्ध विचारधारा की है। बौद्ध विचारधारा का धर्म, दर्शन एवम् आचार के क्षेत्र में विशेष स्थान है। अतः इस साहित्य पर आधारित मूल्यों के चिन्तन को बौद्ध मूल्य-मीमांसा कहा जाता है।

बौद्ध मूल्य-मीमांसा को प्रतिबिम्बित करने वाली अवधारणाएँ इस प्रकार हैं — सम्यक् दृष्टि, पारमिता, बोधिसत्त्व, धर्म, आचार, सद्गुण, करुणा, सत्य, अहिंसा, सन्तोष, दान, धैर्य, क्षमा, शील, परोपकार, दया, अष्टांगमार्ग इत्यादि। इन अवधारणाओं की विशद् व्याख्या बौद्ध साहित्य में विविध स्थानों पर देखी जा सकती है, किन्तु सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर बौद्ध मूल्य-मीमांसा को प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य है। अतः विषय की गम्भीरता को देखते हुए इस लेख में आर्यशूर प्रणीत जातकमाला के विशेष संन्दर्भ में बौद्ध मूल्य-मीमांसा को प्रस्तुत किया जाएगा।

जातकमाला की सभी कथाओं के प्रमुख पात्र बोधिसत्त्व हैं जो स्वयं में बौद्ध मूल्य-मीमांसा को प्रतीक हैं। बोधिसत्त्व का अर्थ प्राप्ति के अभ्यास में सतत प्रयत्नशील साधक या भिक्षु से है। बोधिसत्त्व उसे कहते हैं जो बोधिचर्या के माध्यम से ध्यान, सदाचरण, पारमिता, संयम आदि सद्गुणों को धारण करता है तथा लोकहित में इसके महत्त्व को मूर्त स्वरूप में प्रस्तुत करता है। बोधिसत्त्व के इस प्रयास के फलस्वरूप व्यक्ति एवं समाज दोनों के

जीवन में कल्याण एवं शान्ति का अविर्भाव होता है।

जातकमाला में लेखक ने बौद्ध मूल्य-मीमांसा को बोधिसत्त्व के रूप में कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इन कथाओं में बोधिसत्त्व मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपों में जन्म लेकर विभिन्न प्रकार से कष्ट उठाते हैं तथा परिवार, ऐश्वर्य, सुख, शरीर और जीवन तक को समर्पित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, व्याघ्री जातक में बोधिसत्त्व एक व्याघ्री और शिशुओं की क्षुधातृप्ति के लिए अपने प्राणों को त्याग कर शरीर समर्पित कर देते हैं। इसी प्रकार का प्राणदान शश जातक, मैत्रीबल जातक, महाकपि जातक तथा हस्ति जातक में देखने को मिलता है, जहाँ अतिथि एवं दूसरों की भलाई के लिए बोधिसत्त्व प्राणों की आहुति दे देते हैं।

जातकमाला में दान के महत्त्व को दिखाते हुए कई कथाएँ हैं। शिबि जातक में नेत्रदान तथा विश्वन्तर जातक में धन, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी तक के दान को दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठि जातक, कुल्माषपिण्डी जातक, अविषह्यश्रेष्ठि जातक एवं शश जातक में भी दान का वर्णन है।

त्याग के महत्त्व को बोधिसत्त्व ने अगस्त्य जातक एवं अपुत्र जातक में बताया है। इसी प्रकार शक्र जातक एवं सुपारग जातक में धर्माचरण पर बल दिया गया है। धैर्य के महत्त्व को शतपत्र जातक में पक्षी एवम् उन्मादयन्ती जातक में राजा के माध्यम से दिखाया गया है। सत्य के मूल्य की स्थापना मत्स्य जातक में मछली और वर्तकापोतक जातक में बटेर के माध्यम से की गई है।

दया एवं करुणा के महत्त्व को महाबोधि जातक, शरभ जातक एवं रुरु जातक के माध्यम से



बताया गया है। यज्ञ जातक के माध्यम से अहिंसा की स्थापना करते हुए पशुहिंसा का विरोध किया गया है।

उक्त सभी कथाओं की मूल ध्वनि यही है कि व्यक्ति को सम्यक् दृष्टि अपनानी चाहिए। बोधिसत्त्व के माध्यम से सम्यक् दृष्टि, पारमिता, संयम आदि का बोध होता है।

बौद्ध मूल्य मीमांसा का चरम स्वरूप शांति, चित्त की निर्मलता और करुणा में प्रतिबिम्बित होता है। इसे प्राप्त करने में जिस प्रकार के गुणों से सम्पन्न व्यक्तित्व की आवश्यकता है उसे जातकमाला बोधिसत्त्व के माध्यम से प्रस्तुत करती है। इसके साथ ही बोधिसत्त्व दान, त्याग, शील, क्षमा आदि सद्धर्माचरण से किस प्रकार इन्हें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में क्रियान्वित करता है इसके व्यावहारिक उदाहरण जातक कथाओं में प्रस्तुत किये गये हैं। ♦

## पत्रवार्ता के माध्यम से मूल्य-विमर्श

एक शादी समारोह में मेरी मुलाकात मेरे बिछड़े स्कूली मित्र से हुई। हम दोनों ने अपने-अपने कार्यों के विषय में एक-दूसरे से जाना। मेरे ये मित्र एक बहुत ही संभ्रान्त परिवार के सदस्य हैं, और इनके परिवार की एक लम्बी सामाजिक-सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परम्परा है, जिसके ये वारिस हैं। ये वर्तमान में अपने परिवार की विरासत को संरक्षित और अधिक समृद्ध बनाने हेतु प्रयासरत हैं। इन्होंने जब मुझसे जाना कि मैं वाराणसी में सामाजिक एवं मूल्य-शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहा हूँ। तब उन्होंने मेरे साथ पत्र माध्यम से मूल्य-विमर्श करना शुरू किया। इनके और मेरे बीच एक वर्ष के अन्तराल में पत्रवार्ता के माध्यम से हुए मूल्य-विमर्श के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

डॉ० साहब इधर कुछ दिनों से अध्ययन में कमी आने की वजह से सामाजिक चिंतनशीलता प्रभावित हुई है। फिर भी जीवन के कुछ पहलुओं पर आपसे चर्चा अवश्य करना चाहूँगा। कुछ बिन्दु जो लगातार कचोटते हैं। आज चकाचौंध का सामाजिकता पर व्यापक प्रभाव पड़ा। आज क्यों हर जगह शीर्ष पर नैतिकता से क्षीण व्यक्ति ही अपना वर्चस्व स्थापित करते जा रहे हैं? क्या कारण है कि अच्छे, नैतिक सारगर्भित विचारों को सुनने समझने वालों की संख्या में लगातार कमी आती जा रही है? आज यदि समाज में नैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित वार्ता की जाती है तो लोगों को लगता है कि पता नहीं किस जमाने की बात की जा रही है। लेकिन ये लोग इस बात को भूल जाते हैं कि नैतिक विचार ही समाज को सही दिशा एवं मनुष्य की लौकिक पारलौकिक यात्रा को सुगम बना सकते हैं। ये ही जीवन में उत्साह का संचार एवं रंगों का समावेश कर सकते हैं।

यदि आज के सन्दर्भ में बात की जाय तो हम पायेंगे कि हमने जो कुछ अर्जित किया है — यथा — बड़े-बड़े मकान, बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ, कीमती वस्त्र एवं भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि करने वाली चीजें, लेकिन हमने यह सब एक बड़ी कीमत करके प्राप्त किया है।

आज समय से पहले का बचपन खोता जा रहा है। युवाओं का यौवन भी प्रभावित हो रहा है। बुजुर्गों की उपेक्षा हो रही है मनुष्य की ये तीनों अवस्थाएँ अपनी सुन्दरता एवं अर्थ को खोती जा रही हैं। आज संयुक्त परिवारों की परम्परा लगभग समाप्त हो रही है। ऐसे परिवार माता-पिता का अभाव है, जो अपनी कन्या को संयुक्त परिवार को लेकर चलने की शिक्षा देते थे। उसके लिए यह शिक्षा ईश्वर के के विराट स्वरूप की पूजा सदृश्य होती थी। परिवार के प्रत्येक सदस्य को वह ईश्वर की सन्तान के रूप में स्वीकार करती थी। समाज के प्रत्येक व्यक्ति परस्पर इस प्रकार से कार्य सम्पादित करते थे कि समाज

में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के लिए है। यह परस्पर पूरकता अन्ततोगत्वा प्राकृतिक जैविक संरचना को सुदृढ़ करती थी। आज ये रिश्ते आर्थिक एवं स्वार्थपूर्ण ही रह गये हैं।

आज भौतिक एवं आर्थिक ऐश्वर्य प्राप्त करने की भाग-दौड़ में लोग समय से पूर्व ही अंधेड़/वृद्धावस्था को प्राप्त कर अवसाद ग्रस्त होते जा रहे हैं। अपनी मनःस्थिति को व्यक्ति संभाल नहीं पा रहा है। 60% बुजुर्गों का जीवन अपने बच्चों से दूर व्यतीत हो रहा है। वे मानसिक-शारीरिक वेदना से पीड़ित हैं। लेकिन उनकी इस वेदना को सुनने-समझने वाला उनका कोई भी अपना पास नहीं दिखाई पड़ता। क्या यह सोचनीय नहीं है कि आखिर जिन्होंने हमें जन्म दिया, पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, उनको हम अपने साथ लेकर, उनकी सेवा करते हुए अपनी अन्य जरूरतों के लिए भी कार्य करें? ऐसा सम्भव भी है, लेकिन इसके लिए इच्छाशक्ति की आवश्यकता है।

कुछ दिनों पूर्व अखबार में पढ़ने को मिला था कि एक सैन्य अधिकारी ने अवसाद के कारण आत्महत्या कर ली, क्योंकि उनका पुत्र उनसे दूर रहता था। वह अकेलेपन से प्रभावित होने के कारण अवसाद ग्रस्त हो गये थे। उनके सुसाईड नोट से पता चला कि उनका पुत्र प्रतिमाह 2 लाख रुपये वेतन पाता था, लेकिन उसके पास अपने पिता की भावनाओं को समझने के लिए वक्त नहीं था। धिक्कार है ऐसे समृद्ध, सफल जीवन जीने वालों को, जो जीवन को जन्म देने वाले की भावनाएँ ही न समझें।

लेकिन इस सन्दर्भ में समझ से परे — यह बात है कि पुत्र की प्राथमिक पाठशाला तो यही माता-पिता होते हैं, यही समाज होता है, फिर कहाँ चूक रह जाती है। ऐसे माता-पिता से या फिर पुत्र ही ऐसा प्रारब्ध लेकर आते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसे माता-पिता समय रहते अपने को वातावरण के अनुसार रहने में भी कहीं न कहीं चूक कर जाते हैं, और फिर जब अत्यधिक आशायें धूमिल होती दिखती हैं तो अवसाद बढ़ता है और वह इस स्थिति में पहुँचा देता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि ये अपने को भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए भी मानसिक रूप से मजबूत बनने की स्थिति की ओर अग्रसर हों। कोशिश करें कि माह, छः माह, वर्ष में एक बार अपनी भौतिक आवश्यकताओं से दूर हटकर सामान्य बहुसंख्यक भारतीयों की तरह कम से कम एक दिन अवश्य रहें या फिर लगातार उनकी जीवन शैली को करीब से महसूस करें। कभी भी, किसी भी स्थिति में अवसाद नहीं घरेगा। भारत का किसान प्रत्येक वर्ष कृषि कार्य को अपनी बहुत ढेर सारी आशाओं को, परिवार के बिखरे सपनों को एक करने के लिए बड़ी मेहनत से करता है, प्रकृति की भीषण मार को भी अपने बज्र सदृश्य हृदय में झेलता है, परन्तु कभी भी अवसाद की दवा नहीं लेता।

इस सन्दर्भ में गाजीपुर के महान संत पवनहारी बाबा जी की कर्म साधना का उल्लेख किया जाना प्रासंगिक होगा। मैं उन्हीं पवनहारी बाबा जी की बात कर रहा हूँ जिनके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव स्वामी विवेकानंद जी के जीवन पर पड़ा।

पवनहारी बाबा जी के लिए उनका प्रत्येक दैनिक कर्म साधना कार्य की तरह होता था। वे जितनी तनमयता से 'भजन-पूजन' करते थे, उतनी ही एकाग्रता से अपने बर्तन भी साफ करते थे। उनकी दृष्टि से एक समय में मन को एक ही जगह लगाना। कार्य को कुशल बनाता है।

यदि पवनहारी बाबा जी की तरह ही हम अपने कर्तव्य-कर्म को करें तो हम अवसाद, चिन्तायें जैसी बीमारियाँ नहीं घरेगीं। ♦

**श्री राजीव तिवारी, महोबा (उ०प्र०)**